

जैनहितैषी

कार्तिक, अगहन सं० २४४७ । नवंबर, दिसंबर सन् १९२०

आवश्यक प्रार्थना ।

कई जरूरी कामोंमें फँसे रहनेके कारण हम हितैषीका यह युग्म अंक भी वी० पी० से न भेज सके । इसे हम अपने सदाके प्रेमी और शुभचिन्तक ग्राहकोंकी सेवामें योंही भेज रहे हैं । हमारी पिछले अंककी प्रार्थना पर ध्यान देकर बहुतसे ग्राहकोंने मनीआर्डरसे मूल्य भेज दिया है । जिन सज्जनोंने अभी तक नहीं भेजा है, उनसे बहुत ही नम्रतापूर्वक हमारी प्रार्थना है कि वे इस अंकको पाते ही नये वर्षका मूल्य मनीआर्डरसे भेज देनेकी कृपा करें । इससे उन्हें रजिस्ट्री खर्चके दो आनेका लाभ होगा और हम वी० पी० भेजनेकी बड़ी भारी भ्रंशसे बच जावेंगे ।

पहले हमने वार्षिक मूल्य ३) तीन रुपया रखनेका निश्चय किया था, परन्तु अब इसका छपनेका इन्तजाम बनारसमें हो गया है जिससे काम कुछ किफायतसे होगा, इस कारण अब हम इस वर्षका मूल्य २।।) ही लेंगे । यह मूल्य ग्राहकोंको कुछ भारी भी न पड़ेगा ।

जो महाशय म० आ० न भेजेंगे, उन्हें आगामी तीसरा अंक २।।०) (मूल्य २।।); रजिस्ट्री खर्च ०) और म० आ० खर्च ०) के वी० पी० से भेजा जायगा । आशा है कि उसे वे सहर्ष स्वीकार कर लेंगे ।

जो सज्जन इस वर्ष किसी कारणसे ग्राहक न रहना चाहें उन्हें कृपापूर्वक यह युग्म अंक तत्काल ही वापस कर देना चाहिए और एक कार्ड द्वारा हमें सूचना दे देनी चाहिए ।

जो सज्जन समझते हैं कि जैनहितैषी जैनसाहित्यकी और जैनसमाजकी शुद्ध अभिप्रायसे यथाशक्ति सेवा कर रहा है, वेही इसके ग्राहक रहनेकी कृपा करें । जैनधर्मके ठेकेदारोंके आन्दोलनसे, जो इसके विपरीत समझते हैं, वे इसके कभी ग्राहक न रहें । हम अपने इस पाषकार्य (?) में उनकी जरा भी सहायता नहीं चाहते ।

जैनहितैषीने अभीतक जो कुछ थोड़ी बहुत सेवा की है, उसकी ओर देखते हुए हमारा विश्वास है कि जैनहितैषीकी शुभचिन्तकोंकी कमी न रहेगी और वह किसी भी विरुद्ध आन्दोलनकी तर्जनी दिखलानेसे मुरझा जानेवाला कद्दूका फूल सिद्ध न होगा ।

हमें अपने शुभचिन्तकोंसे यह आशा है कि इस वर्ष जैनहितैषीकी ग्राहक-संख्या पहलेसे भी अधिक बढ़ जायगी । हमारे हितैषी ग्राहक इस बार बतला देंगे कि इसके हित-शत्रु जितना जितना इसका विरोध करते हैं, उतना उतना इसका अधिक प्रचार होता है ।

इस वर्ष पहलेसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और जैनधर्मकी असलियत पर अपूर्व प्रकारा डालनेवाले लेख प्रकाशित करनेका प्रबन्ध किया जा रहा है ।

—प्रकाशक ।

सम्पादक, बाबू जुगुलकिशोर मुख्तार ।

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी

विषयसूची ।

१ उपासनातत्त्व	१—६
२ पुरानी बालोंकी खोज	६—१६
३ मल्लिषेणका परिचय	१६—२४
४ तामिल-प्रदेशोंमें जैनधर्मावलम्बी	२४—३१
५ जैनधर्मकी अनेकान्तात्मक प्रभुता	३१—३८
६ जैनधर्मका महत्व	३८—४८
७ समाजशास्त्रका नवीन सिद्धान्त	४८—४९
८ जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवचन्द्रो	४९—५८
९ सेठ लालचन्द्रजी सेठीके भाषणका कुछ सारभाग	५८—५९
१० पुस्तक-परिचय	५९—६२
११ सम्पादकीय वक्तव्य	६२—६४

अमूल्य भेंट ।

जो लोग जैनहितैषीका यह अंक पढ़ने पर और दूसरा अंक निकलनेसे पहले हितैषीके इस वर्षका मूल्य, मनीआर्डर द्वारा, मैनेजर 'जैनहितैषी' ठि० हीराबाग पो० गिरगाँव—बम्बईके पतेसे, भेज देंगे अथवा इस अंकके पढ़नेसे पहले जो भेज चुके हैं उन सबको 'वीरपुष्पांजलि' नामकी एक नई उपयोगी पुस्तक बिना मूल्य भेंट की जायगी ।

सम्पादक ।

प्रार्थनायें ।

१ जैनहितैषी किसी स्वार्थबुद्धिसे प्रेरित होकर निजी लाभके लिये नहीं निकाला जाता है । इसके लिए समय, शक्ति और धनका जो व्यय किया जाता है वह केवल निष्पक्ष और ऊँचे विचारोंके प्रचारके लिये; अतः हमकी उन्नतिमें हमारे प्रत्येक पाठककी सहायता देनी चाहिये ।

२ जिन महाशयोंको इसका कोई लेख अच्छा मालूम हो उन्हें चाहिए कि उस लेखको वे जितने मित्रोंको पढ़कर सुना सकें, अवश्य सुना दिया करें ।

३ यदि कोई लेख अच्छा न मालूम हो अथवा विरुद्ध मालूम हो तो केवल उसीके कारण लेखक या सम्पादकसे द्वेषभाव धारण न करनेके लिये सविनय निवेदन है ।

४ लेख भेजनेके लिये सभी सम्प्रदायके लेखकोंको आमंत्रण है ।

सम्पादक ।

नियमावली ।

१ जैनहितैषीका वार्षिक मूल्य ३) तीन रुपया पेशगी है ।
२ ग्राहक वर्षके आरम्भसे किये जाते हैं और बीचमें ७वें अंकसे । आधे वर्षका मूल्य १।।)

३ प्रत्येक अंकका मूल्य १) चार आने ।

४ लेख, बरलेके पत्र, समालोचनार्थ पुस्तकें आदि

'बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार, सरसावा (सहारनपुर)' के पास भेजना चाहिये । सिर्फ प्रबन्ध और मूल्य आदि सम्बन्धी पत्रव्यवहार इस पतेसे किया जाय:-

मैनेजर, जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई ।

पुष्पलता ।

हिन्दीमें एक नये लेखककी लिखी हुई अपूर्व गल्प । प्रत्येक गल्प मनोरंजक, शिवाप्रद और भावपूर्ण है । सभी गल्पें स्वतंत्र हैं और हिन्दीसाहित्यके लिये गौरवकी चीजें हैं । जो लोग अनुवादग्रन्थोंसे अरुचि रखते हैं उन्हें यह मौलिक गल्पग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिए । ७-८ चित्रोंसे पुस्तक और भी सुन्दर हो गई है । हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीजका यह ४१वाँ ग्रन्थ है । मूल्य १) सजिल्दका १।।)

आनन्दकी पगडडियाँ ।

जेम्स एलेन अँगरेजीके बड़े ही प्रसिद्ध आध्यात्मिक लेखक हैं । उनके ग्रन्थ बड़े ही मार्मिक और शान्तिप्रद गिने जाते हैं । अँगरेजोंमें उनका बड़ा मान है । यह ग्रन्थ उन्हींके 'Byways of Blessedness' नामक ग्रन्थका अनुवाद है । प्रत्येक विवेकी और विचारशील पुरुषको यह ग्रन्थ पढ़ना चाहिए । मूल्य १) सजिल्दका १।।)

सुखदास ।

जार्ज ईलियटके सुप्रसिद्ध उपन्यास 'साइलस मारनर' का हिन्दी रूपान्तर । इस पुस्तकको हिन्दीके लब्धप्रतिष्ठ उपन्यासलेखक श्रीयुत प्रेमचन्दजीने लिखा है । बडिया एण्टिक पेपर पर बड़ी ही सुन्दरतासे छपाया गया है । उपन्यास बहुत ही अच्छा और भावपूर्ण है । मूल्य १।।)

मैनेजर, हिन्दीग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, बम्बई ।

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।

पन्द्रहवाँ भाग ।
अंक १-२

जैनहितैषी ।

अक्टूबर, नवम्बर १९२०
कार्तिक, अगहन २४४७

न हो पक्षपाती बतावे सुमार्ग, डरे ना किसीसे कहे सत्यवाणी ।
बने है विनोदी भले आशयोसे, सभी जैनियोंका हितैषी 'हितैषी' ॥

उपासना-तत्त्व ।

हमारी धार्मिक शिक्षा 'उपासना'से प्रारम्भ होती है । पूजा, भक्ति और आराधना ये सब उपासनाके ही नामान्तर हैं । यही धर्मकी पहली सीढ़ी है जिसका हमें बचपनसे ही अभ्यास कराया जाता है । बच्चा बोलना भी प्रारम्भ नहीं करता कि उसे जिनमन्दिर आदिमें ले जाकर, मूर्ति आदिके सामने उसके हाथ जुड़वा कर तथा मस्तक नमवा कर उसे उपासनाका एक पाठ पढ़ाया जाता है; और ज्यों ही वह कुछ बोलने लगता है त्यों ही उससे इष्ट देवताओंके नामोंका उच्चारण—'ॐ', 'जय' आदि शब्दोंका उच्चारण—कराया जाता है, 'णमो अरहंताणं', 'णमोत्थुणं' आदिके पाठ सिखलाए जाते हैं और, जितना शीघ्र बन सके उतना शीघ्र परमात्माकी कुछ स्तुतियाँ भी उसे याद कराई जाती हैं । बच्चा, अपनी अज्ञान

दशामें, यदि मूर्तिको एक खिलौना समझ कर उसके लेनेके लिये हाथ पसारता है, ज़िद्द करता है, उसे 'भाई' कह कर पुकारता है, उसको चढ़ा हुआ नैवेद्य उठा कर खाने लगता है अथवा उसके सामने पीठ देकर खड़ा हो जाता या बैठ जाता है तो उसकी इस प्रकारकी बातोंका निषेध किया जाता है और कुछ गम्भीर स्वरके साथ कहा जाता है कि "नहीं खबरदार ! ऐसा नहीं किया करते; ये भगवान् हैं, इनके आगे हाथ जोड़ो ।" साथ ही, उसे प्रतिदिन भगवान्के दर्शनादिकके लिये मन्दिरमें जाने और किसी स्तुति पाठादिकका उच्चारण करनेकी प्रेरणा भी की जाती है । इस तरह पर शुरुसे ही परमात्माकी पूजा, भक्ति, उपासना और आराधनाके संस्कार हमारे अन्दर डाले जाते हैं । परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, समाजमें, ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति निकलेंगे जो उपा-

सनाके तत्त्वको अच्छी तरहसे जानते और समझते हैं। उन्हें यह बात प्रायः सिखलाई ही नहीं जाती। अधिकांश माता-पिता स्वयं इस तत्त्वसे अनभिज्ञ होते हैं—वे खुद ही अपनी क्रियाओंका रहस्य नहीं जानते अथवा कुछका कुछ जानते हैं—और इसलिये उनकी समझमें जो बात जिस तरह पर कुलपरम्परासे चली आती है उसे वे अपने बच्चोंके गले उतार देते हैं—उन्हें रटा देते अथवा सिखला देते हैं। इससे अधिक शायद वे अपना और कुछ कर्तव्य नहीं समझते। नतीजा इसका यह होता है कि हमारे अधिकांश भाई नित्य मन्दिरमें ज़रूर जाते हैं, भगवान्का दर्शन और पूजन करते हैं, उन्हें कुछ भेट भी चढ़ाते हैं, भगवान्के नामकी माला फेरते हैं, स्तुतियाँ पढ़ते हैं, संस्कृत प्राकृतके भी अनेक स्तोत्रोंका पाठ किया करते हैं, तीर्थयात्राको निकलते हैं, और और भी भक्ति तथा उपासनाके नाम पर, बहुतसे काम तथा विधि-विधान करते हुए देखे जाते हैं; परन्तु उन्हें प्रायः यह खबर नहीं होती कि यह सब कुछ क्यों किया जाता है, किसके लिये किया जाता है, क्या ज़रूरत है, इसका मूल उद्देश्य क्या है, हमारी इन क्रियाओंसे वह उद्देश्य पूरा होता है या नहीं और यदि नहीं होता तो हमें फिर किस प्रकारसे बर्तना चाहिये, इत्यादि। हाँ, वे इतना ज़रूर जानते हैं कि ये सब धर्मके काम हैं, पहलेसे होते आये हैं और इनके द्वारा पुण्योपार्जन किया जाता है। परन्तु धर्मके काम क्योंकर हैं, किस तरह होते आए हैं और इनके द्वारा कैसे पुण्यका उपार्जन किया जाता है, इन सब बातोंकी उन्हें जाँच नहीं होती और न वे जाँचकी कुछ ज़रूरत ही समझते हैं। उनका संपूर्ण आच-

रण, इस विषयमें, प्रायः लोक-रीतिका (रूढ़ियोंका) अनुसरण करनेवाला, एक दूसरेकी देखादेखी और ज्यादातर लौकिक प्रयोजनोंको लिये हुए होता है। उपास्य और उपासनाके स्वरूपपर उनकी दृष्टि ही नहीं होती और न वे उपासनाके विधिविधानोंमें कभी कोई भेद उपस्थित होने पर सहजमें उसका आपसी (पारस्परिक) समझौता कर सकते हैं। उन्हें अपनी चिरप्रवृत्तिके विरुद्ध ज़रासा भी भेद असह्य हो उठता है और उसके कारण वे अपने भाइयोंसे ही लड़ने मरने तकको तैयार हो जाते हैं। ऐसे स्त्रीपुरुषोंके द्वारा समाजमें सूखा क्रियाकांड बढ़ जाता है, यान्त्रिक चारित्रकी—जड मशीनों जैसे आचरणकी—वृद्धि हो जाती है और भावशून्य क्रियाएँ फैल जाती हैं। ऐसी हालतमें उपासना उपासना नहीं रहती और न भक्तिको भक्ति ही कह सकते हैं। ऐसी प्राणरहित उपासनासे यथेष्ट फलकी कुछ भी प्राप्ति नहीं हो सकती। श्रीकुमुदचन्द्राचार्यने अपने 'कल्याणमन्दिर' स्तोत्रमें ठीक लिखा है—
आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जगबान्धव दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥

अर्थात्—हे जगद्वान्धव जिनेन्द्रदेव ! जन्मजन्मान्तरोंमें मैंने आपका चरित्र सुना है, पूजन किया है और दर्शन भी किया है; यह सब कुछ किया, परन्तु भक्तिपूर्वकः कभी आपको अपने हृदयमें धारण नहीं किया*। नतीजा जिसका

* जिनेन्द्र भगवान्को भक्तिपूर्वक हृदयमें धारण करनेसे जीवोंके दृढ़ कर्मबन्धन इस प्रकार ढीले पड़ जाते हैं जिस प्रकार कि चन्दनके वृक्ष पर मोरके आनेसे उस वृक्षको लिपटे हुए सोंप। अर्थात् मोरके सामीप्यसे जैसे सर्प धरते

यह हुआ कि मैं अब तक इस संसारमें दुःखोंका ही पात्र रहा—मुझे दुःखोंसे छुटकारा ही न मिला—क्योंकि भावशून्य क्रियाएँ फलदायक नहीं होतीं ।

एक दूसरे आचार्य लिखते हैं कि, बिना भावके पूजा आदिका करना, तप तपना, दान देना, जाप्य जपना—माला फेरना—और यहाँ तक कि दीक्षादिक धारण करना भी ऐसा निरर्थक होता है जैसा कि बकरीके गलेका स्तन । अर्थात् जिस प्रकार बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तन देखनेमें स्तनाकार होते हैं परन्तु वे स्तनोंका कुछ भी काम नहीं देते—उनसे दूध नहीं निकलता—उसी प्रकार विना भावकी पूजनादि क्रियाएँ भी देखनेहीकी क्रियाएँ होती हैं, पूजादिका वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता । यथा:—

भावहीनस्य पूजादितपोदानजपादिकम् ।

व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठे स्तनाविव ॥

इससे स्पष्ट है कि हमारी उपासना-सम्बन्धी क्रियाओंमें भावकी कितनी बड़ी ज़रूरत है—भाव ही उनका जीवन और भाव ही उनका प्राण है, विना भावके उन्हें निरर्थक और निष्फल समझना चाहिये । परन्तु यह भाव उपासना-तत्त्व-को समझे विना कैसे पैदा हो सकता है? अतः अपनेमें इस भावको उत्पन्न करके अपनी क्रियाओंको सार्थक बनानेके लिये

हैं वैसे ही जिनेन्द्रके हृदयरथ होने पर कर्म काँपते हैं । क्योंकि जिनेन्द्र कर्मोंका नाश करनेवाले हैं । उन्होंने अ नो आत्मासे कर्मोंको निर्मूल कर दिया है । इसी आशयको आचार्य कुमुदचन्द्रने निम्नलिखित पद्यमें प्रकट किया है:—

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति,

जन्तोः क्षयेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः ।

सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-

मभ्यागते वनशिखंडिनि चंदनस्य ॥

—कल्याणमन्दिर ।

जैनियोंको आमतौर पर, अपना उपासना-तत्त्व समझने और समझकर तदनुकूल बर्तनेकी बहुत बड़ी ज़रूरत है । इसी ज़रूरतको ध्यानमें रखकर आज इस लेख द्वारा, संक्षेपमें, उपासना-तत्त्वको समझानेका यत्न किया जाता है । इससे हमारे वे अजैन बन्धु भी ज़रूर कुछ लाभ उठा सकेंगे जिन्हें जैनियोंके उपासना-तत्त्वको जाननेकी आकांक्षा रहती है, अथवा जैनसिद्धान्तानभिज्ञताके कारण जिनके हृदयमें कभी कभी यह प्रश्न उपस्थित हुआ करता है कि जब जैन लोग किसी ईश्वर या परमात्माको जगत्का कर्ता हर्ता नहीं मानते और न उसकी प्रसन्नता या अप्रसन्नतासे किसी लाभ तथा हानिका होना स्वीकार करते हैं तो फिर वे परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना क्यों करते हैं और उन्होंने उससे क्या लाभ समझ रक्खा है? इस प्रश्नका समाधान भी स्वतः नीचेकी पंक्तियोंसे हो जायगा:—

जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि यह आत्मा जो अनादि कर्ममलसे मलिन हो रहा है और अपने स्वरूप को भुलाकर विभाव परिणतिरूप परिणम रहा है वही उन्नति करते करते कर्ममलको दूर करके परमात्मा बन जाता है; आत्मासे भिन्न और पृथक् कोई एक ईश्वर या परमात्मा नहीं है—अर्हत, जिनेन्द्र, जिनदेव, तीर्थंकर, सिद्ध, सार्व, सर्वज्ञ, वीतराग, परमेष्ठि, परंज्योति, शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार, प्राप्त, ईश्वर, परब्रह्म इत्यादि सब उसी परमात्मा या परमात्मपदके नामान्तर हैं । अथवा दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि, परमात्मा आत्मीय गुणोंका समुदाय है; उसके अनन्त गुणोंकी अपेक्षा उसके अनन्त नाम हैं । वह परमात्मा परम वीतरागी और शान्तस्वरूप है, उसको

किसीसे राग या द्वेष नहीं है, किसीकी स्तुति, भक्ति और पूजासे वह प्रसन्न नहीं होता और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कट्टु शब्दों पर अप्रसन्नता लाता है; धनिक श्रीमानों, विद्वानों और उच्च श्रेणी या वर्णके मनुष्योंको वह प्रेमकी दृष्टिसे नहीं देखता और न निर्धन कंगालों, मूर्खों तथा निम्नश्रेणीके मनुष्योंको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करता है; न सम्यग्दृष्टि उसके कृपापात्र हैं और न मिथ्या दृष्टि उसके कोपभाजन; वह परमानन्दमय और कृत्यकृत्य है, सांसारिक भगड़ोंसे उसका कोई प्रयोजन नहीं। इसलिये जैनियोंकी उपासना, भक्ति और पूजा, हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाइयोंकी तरह, परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नहीं होती। उसका कुछ दूसरा ही उद्देश्य है जिसके कारण वे (समभूदार जैनी) ऐसा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और वह संक्षिप्तरूपसे यह है कि—

यह जीवात्मा स्वभावसे ही अनन्त-दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार है। परन्तु अनादि कर्ममलसे मलिन होनेके कारण इसकी वे समस्त शक्तियाँ आच्छादित हैं—कर्मोंके पटलसे वेष्टित हैं; और यह आत्मा संसारमें इतना लिप्त और मोहजालमें इतना फँसा हुआ है कि उन शक्तियोंका विकास होना तो दूर रहा, उनका स्मरण तक भी इसको नहीं होता। कर्मके किंचित् क्षयोपशमसे जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञानादि लाभ होता है, यह जीव उतनेहीमें संतुष्ट होकर उसीको अपना स्वरूप मानने लगता है। इन्हीं संसारी जीवोंमेंसे जो जीव, अपनी आत्मनिधिकी सुधि पाकर धातुभेदीके सदृश प्रशस्त ध्यानाग्निके बलसे, इस समस्त कर्ममलको दूर कर देता है उसमें

आत्माकी वे सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतोभावसे विकसित हो जाती हैं और तब वह आत्मा स्वच्छ तथा निर्मल होकर परमात्मदशाको प्राप्त हो जाता है और परमात्मा कहलाता है*। केवलज्ञान- (सर्वज्ञता) की प्राप्ति होनेके पश्चात् जब तक देहका सम्बन्ध बाकी रहता है तब तक परमात्माको सकल परमात्मा जीवन्मुक्त तथा अर्हन्त कहते हैं और जब देहका सम्बन्ध भी छूट जाता है और मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तब वही सकल परमात्मा निष्कल परमात्मा, विदेह-मुक्त और सिद्ध नामोंसे विभूषित होता है। इस प्रकार अवस्था-भेदसे परमात्माके दो भेद कहे जाते हैं। वह परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्थामें अपनी दिव्य वाणीके द्वारा संसारी जीवोंको उनकी आत्माका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाता है—अर्थात्, उनकी आत्मनिधि क्या है, कहाँ है, किस किस प्रकारके कर्मपटलोंसे आच्छादित है, कैसे कैसे उपायोंसे वे कर्मपटल इस आत्मासे जुड़े हो सकते हैं, संसारके अन्य समस्त पदार्थोंसे इस आत्माका क्या सम्बन्ध है, दुःखका, सुखका और संसारका स्वरूप क्या है, कैसे दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है, इत्यादि समस्त बातोंका विस्तारके साथ सम्यक् प्रकार निरूपण करता है—जिससे अनादि अविद्याप्रसित संसारी जीवोंको अपने कल्याणका मार्ग सूझता है और अपना हित साधन करनेमें उनकी

* ध्यानाग्निनेश भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥

प्रवृत्ति होती है* । इस प्रकार परमात्मा-के द्वारा जगत्का निःसीम (बेहद) उपकार होता है । इसी कारण परमात्माके सार्व, परमहितोपदेशक, परमहितैषी और निर्निमित्तबन्धु इत्यादि भी नाम कहे जाते हैं । इस महोपकारके बदलेमें हम (संसारी जीव) परमात्माके प्रति जितना आदर-सत्कार प्रदर्शित करें और जो कुछ भी कृतज्ञता जतलाएँ वह सब तुच्छ है । जो सज्जन अथवा साधुजन होते हैं वे अपने उपकारीके उपकारको कभी नहीं भूलते, बराबर उसका स्मरण रखते हैं और इस उपकार-स्मृतिके चिह्न-स्वरूप अनेक प्रकारसे अपने उपकारके प्रति अपना आदर सत्कार व्यक्त किया करते हैं; जैसा कि, श्लोकवार्तिकमें, श्रीमद्विद्यानंदस्वामीद्वारा, परमात्माकी उपासनाके समर्थनमें, उद्धृत किये हुए निम्नलिखित एक प्राचीन पद्यसे प्रकट है:—

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः ।

प्रभवति स च शास्त्रास्यचोत्पत्तिराप्तात् ॥

इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धे-

र्नाहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥

इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि, “मनोवाञ्छित फलकी सिद्धिका उपाय सम्यग्ज्ञान है; सम्यग्ज्ञानकी उपलब्धि शास्त्रके द्वारा होती है और शास्त्रकी उत्पत्ति आप्त भगवानसे है, इसलिये वे आप्तभगवान् (परमात्मा) जिनके प्रसादसे प्रबुद्धताकी प्राप्ति होकर अभिमत फलकी सिद्धि होती है; संतजनोंके द्वारा पूज्य ठहरते हैं। सच है साधुजन किसीके किये हुए उपकारको कभी भूलते नहीं हैं।” इससे जो लोग दूसरोंके किए हुए उप-

कारको भुला देते हैं उन्हें असाधु तथा असज्जन समझना चाहिये । लोकमें भी उन्हें कृतघ्नी, अहसानकरामोश और गुण-भेद आदि बुरे नामोंसे पुकारा जाता है । ऐसे लोग; जबतक उनकी यह दशा कायम रहती है, कभी उन्नति नहीं कर सकते और न आत्मलाभके सन्मुख हो सकते हैं । इसलिये अपने महोपकारी परमात्माके प्रति आदर-सत्कार रूपसे प्रवर्तित होना हमारा खास कर्तव्य है ।

दूसरे, जब आत्माकी परम स्वच्छ और निर्मल अवस्थाका नाम ही परमात्मा है और उस अवस्थाको प्राप्त करना— अर्थात्, परमात्मा बनना सब आत्माओंका अभीष्ट है, तब आत्मस्वरूपकी या दूसरे शब्दोंमें परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी पूजा भक्ति और उपासना करना हमारा परम कर्तव्य है । परमात्माका ध्यान, परमात्माके अलौकिक चरित्रका विचार और परमात्माकी ध्यानावस्थाका चिन्तन ही हमको अपनी आत्माकी याद दिलाता है—अपनी भूली हुई निधिकी स्मृति कराता है—उसीसे आत्माको यह मालूम पड़ता है कि मैं कौन हूँ (कोवाऽहं) और मेरी आत्मशक्ति क्या है (का च मे शक्तिः) । परमात्माका भजन और स्तवन ही हमारे लिये अपने आत्माका अनुभवन है । आत्मोन्नतिमें अप्रसर होनेके लिये परमात्मा ही हमारा आदर्श है । आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिके लिये हम उसी आदर्शको अपने सन्मुख रखकर अपने चरित्रका गठन करते हैं । अपने आदर्श पुरुषके गुणोंमें भक्ति तथा अनुरागका होना स्वाभाविक और ज़रूरी है । बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं हो सकती । उदाहरणके लिये, यदि कोई मनुष्य संस्कृत भाषाका लि होना चाहे तो उसके लिये यह ज़रूरी

* श्रेयो मार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः ।

—आप्तपरीक्षा ।

वह संस्कृत भाषाके विद्वानोंका संसर्ग करे, उनसे प्रेम रखे, और उनकी सेवामें रहकर कुछ सीखे, संस्कृतकी पुस्तकोंका प्रेमपूर्वक संग्रह करे और उनके अध्ययनमें चित्त लगाए। यह नहीं हो सकता कि, संस्कृतके विद्वानोंसे तो घृणा करे, उनकी शकल तक भी देखना न चाहे, उनसे कोसों दूर भागे, संस्कृतकी पुस्तकोंको छुए तक नहीं, न संस्कृतका कोई शब्द अपने कानोंमें पड़ने दे, और फिर संस्कृतका विद्वान् बन जाय। इसलिये प्रत्येक गुणकी प्राप्तिके लिये उसमें सब ओरसे अनुरागकी बड़ी ज़रूरत है। जो मनुष्य जिस गुणका आदर सत्कार करता है अथवा जिस गुणसे प्रेम रखता है वह उस गुणके गुणीका भी अवश्य आदर सत्कार करता है और उससे प्रेम रखता है। क्योंकि गुणिके आश्रय बिना कहीं भी गुण नहीं होता। आदर सत्कार रूप इस प्रवृत्तिका नाम ही पूजा और उपासना है। इसलिये परमात्मा* इन्हीं समस्त कारणोंसे हमारा परम पूज्य और उपास्य देव है। उसकी इस उपासनाका मुख्य उद्देश्य, वास्तवमें, परमात्मगुणोंकी प्राप्ति—अथवा अपने आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिकी भावना है। यह भावना जितनी अधिक दृढ़ और विशुद्ध होगी सिद्धि भी उतनी ही अधिक निकट होती जायगी। इसीसे अच्छे अच्छे योगीजन भी निरन्तर परमात्माके गुणोंका चिन्तन किया करते हैं। कभी कभी वे परमात्माका स्तवन करते हुए उसमें उन खास खास गुणोंका उल्लेख करते हुए देखे जाते हैं जिनको प्राप्त करनेकी उनकी

उत्कट इच्छा होती है और उनके सम्बन्धमें यह साफ तौरसे लिख भी दिया करते हैं कि हम ऐसे परमात्मगुणोंकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी वन्दना करते हैं; जैसा कि सर्वार्थसिद्धिमें श्रीपूज्यपादाचार्यके दिये हुए निम्न वाक्यसे प्रकट है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं कर्मभूभृतां ।

ज्ञातारं विश्वतरानां वन्दे तद्गुणबन्धये ॥

इससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि परमात्माकी उपासना मुख्यतया उसके गुणोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जाती है, उसमें परमात्माकी कोई गरज़ नहीं होती बल्कि वह अपनी ही गरज़ को लिये हुए होती है और वह गरज़ 'आत्मलाभ' है जिसे परमात्माका आदर्श सामने रखकर प्राप्त किया जाता है। और इसलिये, जो लोग उपासनाके इस मुख्योद्देश्यको अपने लक्ष्यमें नहीं रखते और न उपकारके स्मरण पर ही जिनकी दृष्टि रहती है उनकी उपासना वास्तवमें उपासना कहलाए जानेके योग्य नहीं हो सकती। ऐसी उपासनाको बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनोंसे अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। उसके द्वारा वर्षों क्या, कोटि जन्ममें भी उपासनाके मूल उद्देश्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। और इसलिये, यह जीव संसारमें दुःखोंका ही पात्र बना रहता है। दुःखोंसे समुचित छुटकारा तभी हो सकता है जब कि परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़ाया जाय। परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़नेसे पापपरिणति सहजमें ही छूट जाती है और पुण्यपरिणति उसका स्थान ले लेती है। इसी आशयको स्वामी समन्तभद्राचार्यने निम्न वाक्य द्वारा, बड़े ही अच्छे ढंगसे प्रतिपादित किया है:—

* इन्हीं कारणोंसे अन्य वीतरागी साधु और महात्मा भी, जिनमें आत्माकी कुछ शक्तियाँ विकसित हुई हैं और जिन्होंने अपने उपदेश आचरण तथा शास्त्रनिर्माणसे हमारा उपकार किया है वे सब हमारे पूज्य हैं।

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे,
न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः,
पुनातु चित्तं दुरितां जनेभ्यः ॥

—बृहत्स्वयंभुस्तोत्र ।

इसमें स्वामी समन्तभद्र, परमात्माको लक्ष्य करके उनके प्रति, अपना यह आशय व्यक्त करते हैं कि “हे भगवन्, पूजा भक्तिसे आपका कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि आप वीतरागी हैं—रागका अंश भी आपके आत्मामें विद्यमान नहीं है जिसके कारण किसीकी पूजा भक्तिसे आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है—कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको ज़रा भी क्षोभ नहीं आ सकता; क्योंकि आपके आत्मासे बैरभाव, द्वेषांश, बिलकुल निकल गया है—वह उसमें विद्यमान ही नहीं है—जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योंका उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमें निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिये समान हैं—उनसे आपका कुछ बनता या बिगड़ता नहीं है—तो भी आपके पुण्य गुणोंके स्मरणसे हमारा चित्त पापोंसे पवित्र होता है—हमारी पापपरिणति छूटती है—इसलिये हम भक्तिके साथ आपका गुणानुवाद गाते हैं—आपकी उपासना करते हैं।”

जब परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़ाने, उनके गुणोंका प्रेमपूर्वक स्मरण और चिन्तन करनेसे शुभ भावोंकी उत्पत्ति द्वारा पापपरिणति छूटती और पुण्यपरिणति उसका स्थान लेती है तो नतीजा इसका यही होता है कि हमारी पाप प्रकृतियोंका रस सूखता और पुण्य प्रकृतियोंका रस बढ़ता है। पाप प्रकृतियोंका रस (अनुभाग) सूखने और पुण्य

प्रकृतियोंमें रस बढ़नेसे अन्तराय कर्म नामकी प्रकृति, जोकि एक मूल पाप प्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भागोप-भोग आदिकमें विघ्नस्वरूप रहा करती है—उन्हें होने नहीं देती—वह भग्नरस होकर निर्बल पड़ जाती है और हमारे इष्टको बाधा पहुँचानेमें समर्थ नहीं रहती। तब, हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं और उनका श्रेय उक्त उपासनाको ही प्राप्त होता है। जैसा कि एक आचार्य महोदयके निम्नवाक्यसे प्रकट है:—

नेष्टं विहन्तुं शुभभावंभग्न-

रसप्रकर्षः प्रभुरंतरायः ।

तत्कामचारेण गुणानुरागा-

नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽईदादेः ॥

ऐसी हालतमें यह कहना कि परमात्माकी सच्ची पूजा, भक्ति औप उपासनासे हमारे लौकिक प्रयोजनोंकी भी सिद्धि होती है, कुछ भी अनुचित न होगा। यह ठीक है कि, परमात्मा स्वयं अपनी इच्छापूर्वक किसीको कुछ देता दिलाता नहीं है और न स्वयं आकर अथवा अपने किसी सेवकको भेजकर भक्तजनोंका कोई काम ही सुधारता है, तो भी उसकी भक्तिका निमित्त पाकर हमारी कर्मप्रकृतियोंमें जो कुछ उलटफेर होता है उससे हमें बहुत कुछ प्राप्त हो जाता है और हमारे अनेक बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते हैं। इसलिये परमात्माके प्रसादसे हमारे लौकिक प्रयोजन भी सिद्ध होते हैं अथवा अमुक कार्य सिद्धि हो गया, इस कहनेमें, सिद्धान्तकी दृष्टिसे कोई विरोध नहीं आता। परन्तु फल-प्राप्तिका यह सारा खेल उपासनाकी प्रशस्तता, अप्रशस्तता और उसके द्वारा उत्पन्न हुए भावोंकी तरतमता पर निर्भर है। अतः हमें अपने भावोंकी उज्ज्वलता,

निर्मलता और उनके उत्कर्षसाधन पर खास तौरसे ध्यान रखना चाहिये और वह तभी बन सकता है जब कि परमात्माकी उपासना उपासनाके ठीक उद्देश्यको समझकर की जाय और उसमें प्रायः लौकिक प्रयोजनों पर दृष्टि न रखी जाय । जो लोग केवल लौकिक प्रयोजनोंकी दृष्टिसे—सांसारिक विषयकषायोंको पुष्ट करनेकी गरजसे—परमात्माकी उपासना करते हैं, उसके नाम पर तरह तरहकी बोल-कबूलत बोलते हैं और फलप्राप्तिकी शर्त पर पूजा-उपासनाका वचन निकालते हैं उनके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता कि वे परमात्माके गुणोंमें वास्तविक अनुराग रखते हैं, बल्कि यदि यह कहा जाय कि वे परमात्माके स्वरूपसे ही अनभिन्न हैं तो शायद कुछ ज्यादा अनुचित न होगा । ऐसे लोगोंकी इस प्रवृत्तिसे कभी कभी बड़ी हानि होती है । वे सांसारिक किसी फलविशिष्टकी आशासे—उसकी प्राप्तिके लिये—परमात्माकी पूजा करते हैं; परन्तु फलकी प्राप्ति अपने अधीन नहीं होती, वह कर्म-प्रकृतियोंके उलट-फेरके अधीन है । दैवयोगसे यदि कर्म-प्रकृतियोंका उलट-फेर, योग्य भावोंको न पाकर, अपने अनुकूल नहीं होता और इसलिये अभीष्ट फलकी सिद्धिको अवसर नहीं मिलता तो ऐसे लोगोंकी श्रद्धा डगमगा जाती है अथवा यों कहिये कि उस वृत्तकी तरह उखड़ जाती है जिसका कुछ भी गहरा मूल नहीं होता । उन्हें यह तो खबर नहीं पड़ती कि हमारी उपासना भावशून्य थी, उसमें प्राण नहीं था और इसलिये हमें सच्ची उपासना करनी चाहिये; उलटावे परमात्माकी पूजा-भक्तिमें हतोत्साह होकर उससे उपेक्षित हो बैठते हैं । साथ ही, अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिये दूसरे देवी-देवताओंकी तलाशमें

भटकते हैं, अनेक रागी द्वेषी देवताओंकी शरणमें प्राप्त होकर उनकी तरह तरहकी उपासना किया करते हैं और इस तरह पर अपने जैनत्वको भी कलंकित करके जैनशासनकी अप्रभावनाके कारण बन जाते हैं ।

ऐसी कच्ची प्रकृति और ढीली श्रद्धाके मनुष्योंकी दशा, निःसन्देह, बड़ी ही करुणाजनक होती है ! ऐसे लोगोंको खास तौरसे उपासना-तत्त्वको जानने और समझनेकी ज़रूरत है । उन्हें ऊपरके इस सम्पूर्ण कथनसे खूब समझ लेना चाहिये कि, जैनदृष्टिसे परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना परमात्माको प्रसन्न करने—खुशामद द्वारा उससे कुछ काम निकालनेके लिये नहीं होती और न सांसारिक विषयकषायोंका पुष्ट करना ही उसके द्वारा अभीष्ट होता है । बल्कि, वह खास तौरसे परमात्माके उपकारका स्मरण करने और परमात्माके गुणोंकी—आत्म-स्वरूपकी—प्राप्तिके उद्देश्यसे की जाती है । परमात्माका भजन और चिन्तन करनेसे—उसके गुणोंमें अनुराग बढ़ानेसे पापोंसे निवृत्ति होती है और साथ ही महत्पुण्योपार्जन भी होता है, जोकि स्वतः अनेक लौकिक प्रयोजनोंका साधक है । इसलिये जो लोग परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना नहीं करते वे अपने आत्मीय गुणोंसे पराङ्मुख और अपने आत्मलाभसे वंचित रहते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु कृतघ्नताके महान् दोषसे भी दूषित होते हैं । अतः ठीक उद्देश्योंके साथ परमात्माकी पूजा, भक्ति, उपासना और आराधना करना सबके लिये उपादेय और ज़रूरी है ।

हमारा विचार अभी इस विषय पर बहुत कुछ प्रकाश डालनेका है परन्तु इस समय लेख अधिक बढ़ जानेके भयसे

यहीं विराम लेना उचित समझते हैं। इस लेखका दूसरा भाग (उत्तरार्ध), जो 'मूर्तिपूजा' से सम्बन्ध रखता है, अगले अंकमें दिया जायगा और उसमें उपासनाके ढंग पर भी खासा विवेचन किया जायगा। इसके सिवाय 'स्तुतिप्रार्थनादि रहस्य' नामका एक दूसरा विस्तृत खतन्त्र लेख लिखनेका भी हमारा विचार हो रहा है, जिसमें जैनियोंके भक्तिमार्ग पर और भी ज्यादा विशेषताके साथ प्रकाश डाला जायगा और स्तुतियों तथा प्रार्थनाओं आदिके रहस्यको खोलकर रक्खा जायगा। इन सब लेखोंसे, हम समझते हैं, उपासनाका विषय बहुत कुछ विशद और स्पष्ट हो जायगा।

सरसावा, ता०१-१२-२०

पुरानी बातोंकी खोज ।

१-तत्त्वार्थराजवार्तिकका

अन्तिम वाक्य ।

सनातन-जैनग्रन्थमालामें श्रीयुत पं० पन्नालालजी बाकलीवालने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' नामका जो ग्रन्थ प्रकाशित कराया है उसके अन्तमें ३२ श्लोक 'उक्तंच' रूपसे दिये हैं और उनके साथ ही ग्रंथ समाप्त कर दिया है। इन श्लोकोंके बाद ग्रंथकी समाप्तिसूचक कोई पद्य नहीं दिया; यह बात हमें बहुत खटकती थी और इसलिये हम इस बातकी खोजमें थे कि ग्रन्थकी अन्यान्य हस्तलिखित प्रतियों परसे यह मालूम किया जाय कि उनका भी ऐसा ही हाल है अथवा किसीमें कुछ विशेष है। खोज करते हुए जैनसिद्धान्त-रचयन, आराकी एक प्रतिमें, जिसका

नम्बर ५१ है, उक्त ३२ श्लोकोंके बाद, एक पद्य हमें इस प्रकार मिला है:—

इति तत्त्वार्थसूत्राणां भाष्यं भाषितमुग्रामैः ।

यत्र संनिहितस्तर्कन्यायागमविनिर्णयः ॥

इस पद्यके द्वारा तत्त्वार्थ सूत्रोंके— अर्थात्, तत्त्वार्थ शास्त्र पर बने हुए वार्तिकोंके—भाष्यकी समाप्तिको सूचित किया है और यह बतलाया है कि इस भाष्यमें तर्क, न्याय और आगमका विनिर्णय अथवा तर्क, न्याय और आगमके द्वारा विनिर्णय संनिहित है। इसमें संदेह नहीं कि यह पद्य तत्त्वार्थवार्तिक भाष्यका अन्तिम वाक्य मालूम होता है। परंतु अनेक प्रतियोंमें यह वाक्य नहीं पाया जाता, इसे लेखकोंकी करामात समझना चाहिये।

२-न्यायदीपिकाकी प्रशस्ति ।

आराके जैनसिद्धान्तभवनमें 'न्यायदीपिका'की जो प्रति नं० १५६ की है उसके अन्तमें निम्नलिखित प्रशस्ति पाई जाती है:—

मद्गुरोर्वर्धमानेशो वर्धमानदयानिधेः ।

श्रीपादस्नेह सम्बंधात्सिद्धवं न्यायदीपिका ॥ १ ॥

और इसके बाद अन्तिम संधि इस प्रकार दी है:—

'इति श्रीमद्वर्धमानभट्टारकाचार्यगुरुकारण्यसिद्धसारस्वतोदयभीमदभिनवधर्मभूषणाचार्य विरचितयां न्यायदीपिकायामागमप्रकाशः समाप्तः ।

यह सन्धि और उक्त प्रशस्ति दोनों चीजें, सन् १९१३में, जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय द्वारा प्रकाशित हुई 'न्यायदीपिका' में नहीं हैं और न इससे पहलेकी छपी हुई किसी प्रतिमें हैं। अनेक हस्तलिखित प्रतियोंमें भी ये नहीं देखी गईं। हाँ दौर्वलि जिनदासशास्त्रीके भंडारमें जो इस ग्रन्थकी दो प्रतियाँ हैं उनका अन्तिम भाग एक

बार जैनहितैषीमें प्रकाशित हुआ था* वह उक्त सन्धिसे मिलता जुलता है, कुछ थोड़ा सा भेद है। मालूम नहीं प्रशस्तिका उक्त पद्य भी है या नहीं। उन प्रतियोंमें प्रशस्तिके इस पद्यसे ग्रन्थकी वह त्रुटि पूरी हो जाती है जो कि एक गद्यात्मक ग्रन्थके प्रारम्भमें मंगलाचरण तथा प्रतिज्ञा-विषयक श्लोकको देकर अन्तमें समाप्ति आदि विषयक कोई पद्य न देनेसे खटकती थी। साथ ही, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ग्रन्थकर्ताके गुरु वर्धमानेश अर्थात् वर्धमान भट्टारक थे और उन्हींके श्रीपादस्नेहसम्बन्धसे यह न्यायदीपिका सिद्ध हुई है। ग्रन्थकर्ताने प्रारम्भिक पद्यमें अर्हन्तका विशेषण 'श्रीवर्धमान' देकर (श्रीवर्धमानमर्हन्तं नत्वा, लिखकर) उसके द्वारा भी अपने गुरुका स्मरण और सूचन किया है। ये वर्धमानभट्टारक कौन थे और उन्होंने किन किन ग्रन्थोंका प्रणयन किया है, यह बात, यद्यपि, अभी तक स्पष्ट नहीं हुई तो भी 'वरांगचरित्र' नामका एक ग्रन्थ × वर्धमान भट्टारकका बनाया हुआ उपलब्ध है और उसकी संधियोंमें भट्टारक महोदयका 'परवादिदन्तिपंचानन' विशेषण दिया है,—जैसा कि उसकी निम्नलिखित अन्तिम सन्धिसे प्रकट है:—

इति परवादिदन्तिपंचाननश्रीवर्धमानभट्टारकदेवविरचिते वराङ्गचरिते सर्वार्थसिद्धि-गमनो नाम त्रयोदशमः सर्गः ।

जान पड़ता है 'परवादिदन्तिपंचानन' यह वर्धमान भट्टारकका विरुद था अथवा उनकी उपाधि थी; और इससे वे एक नैयायिक विद्वान् मालूम होते हैं।

* देखो जैनहितैषी भाग ११ अंक ७—८।

× तत्त्वनिश्चय और द्वादशांग चरित्र नामके दो ग्रंथ भी वर्धमान भट्टारकके बनाये हुए कहे जाते हैं परन्तु उनका कोई अंश अभी तक हमारे देखनेमें नहीं आया।

न्यायदीपिकाके कर्ता धर्मभूषणके गुरु भी नैयायिक विद्वान् होने चाहिये और उन्हें न्यायदीपिकाकी उक्त संधिमें 'भट्टारक' भी लिखा है। इसलिये, हमारे खयालसे, ये दोनों एक ही व्यक्ति जान पड़ते हैं। यदि यह सत्य है तो धर्मभूषणके गुरु मूलसंघ, बलात्कारगण और भारती गच्छके आचार्य थे; जैसा कि वरांगचरित्रकी प्रशस्तिके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

स्वस्ति भूमूलसंघे भुवि विदितगणे श्रीवत्सात्कारसंज्ञे । श्रीभारत्यादिगच्छे सकलगुणनिधिर्वर्धमानाभिधानः॥ आसीद्भट्टारकोऽधो....

न्यायदीपिकाकी उक्त संधिसे यह साफ ज़ाहिर है कि इस ग्रन्थके कर्तासे पहले कोई दूसरे 'धर्मभूषण' नामके आचार्य भी हो गये हैं और इसलिये ये 'अभिनव धर्मभूषण' कहलाते थे। इन्हें गुरुके अनुग्रहसे सारस्वतोदयकी सिद्धि थी।

३-अठारह लिपियोंके नाम ।

जैनसिद्धान्त भवन आरामें, धर्मदास सूरिका बनाया हुआ 'विदग्धमुखमंडन' नामका एक वौद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थकी समाप्तिके बाद पत्रके खाली स्थान पर कुछ संस्कृत प्राकृतके पद्य लिखे हुए हैं; जिनमेंसे पहले पद्यके बाद ज़रासा संस्कृत गद्य देकर अठारह लिपियोंकी सूचक दो गाथाएँ दी हैं जो सब इस प्रकार हैं:—

“शुभं भवतु श्रीसंघस्य भद्रं ।

हंसलिबी [१] भूयलिबी [१], जक्की [३] र खुसी [४] य बोधवा ४ (१)

५ (ऊ) ही जवाणि ६ तुदकी ७, कीरी ८ दावांड (डी) य ९ सिंधविया १० ॥१॥

मालविणी ११ नडि १२ नागरि १३, लाडलिबी १४ पारसि (सी) य १५ बोधवा [१]

तह अनिमति (त्त) य लिबी १६, चाणकी १७ मूलदेवी य १८ ॥२॥

अष्टादश लिप्यः ॥”

इनसे अठारह लिपियोंके १ हंसलिपि, २ भूतलिपि, ३ यक्षी, ४ राक्षसी ५ ऊही (उडिया ?), ६ यवनानी (यूनानी), ७ तुर्की, ८ कीरी (काश्मीरी), ९ द्राविडी, १० सिधवी, ११ मालविणी, १२ नडि (कनड़ी ?), १३ देवनागरी, १४ लाडलिपि (लाटी), १५ पारसी (फारसी), १६ अमात्रिकलिपि, १७ चाणक्यी (गुप्तलिपि), और १८ मूलदेवी, (ब्राह्मी ?) ये नाम पाए जाते हैं । इनमेंसे अनेक लिपियोंका विशेष परिचय मालूम करने और उनके उदय-अस्तको जाननेकी ज़रूरत है ।

(क्रमशः)

जैनसिद्धान्तभवन, आराका निरीक्षण ।

बहुत दिनोंसे हमारी इच्छा आराके जैनसिद्धान्त भवनको देखने और उसके प्राचीन ग्रन्थों तथा इतर ग्रन्थसंग्रह परसे कुछ अनुसंधान करनेकी थी । भवनमें किसी कनड़ी विद्वान्के न होनेके कारण यह इच्छा अभी तक पूरी नहीं हो सकी थी । अनेक बार इस बातकी कोशिश की गई कि भवनमें कोई कनड़ीका विद्वान् बुलाया जाय परन्तु सफलता नहीं हुई । भवनसे जो सूची एक लम्बे चौड़े समयकी प्रतीक्षा और बहुतसी उच्च आशाओंके बाद, गतवर्ष प्रकाशित हुई थी वह इतनी अव्यवस्थित, अधूरी और भ्रमपूर्ण पाई गई कि उसकी प्रायः किसी भी बात पर सहसा विश्वास करनेके लिये हृदय तय्यार नहीं होता था । कई बार, जैन-हितैषीमें, सूचीसम्बन्धी कुछ बातों पर नोट करनेकी ज़रूरत पड़ी और भवनके मन्त्री साहबसे उनका समाधान तथा

स्पष्टीकरण माँगा गया । परन्तु वे ऐसा करनेमें पूर्णरूपसे असमर्थ रहे और अन्तमें उन्हें यही लिखना पड़ा कि हमारे पास कोई कनड़ी जाननेवाला विद्वान् नहीं है, इसलिये हम आपकी अभीष्ट बातोंका उत्तर देनेमें असमर्थ हैं । इन सब बातोंने भवनमें एक कनड़ी विद्वान्के जल्द बुलाये जानेकी ज़रूरतका और भी अधिकताके साथ उपस्थित कर दिया । देहलीमें, एक प्रसंग पर, हमारा स्वर्गीय बाबू देवकुमारजी बाबू निर्मल कुमारजीके सुपुत्रसे मिलना हुआ । उस समय हमने आपसे एक कनड़ी विद्वान्के बुलानेकी प्रेरणा करते हुए यह भी कहा कि यदि फ़िलहाल वेतन पर कोई ऐसा विद्वान् न आ सके तो कमसे कम श्रीमान् नेमिसागरजी वर्णीका चातुर्मास आरामें कराइये जिससे हम उनके साथमें रहकर सूचीका कुछ संशोधन करा सकें । इसपर भाई निर्मल-कुमारजीने वर्णीजीको लिखा और वर्णीजीके अनुग्रहसे, सौभाग्यवश, पं०.शांति-राजय्या नामके एक सुयोग्य विद्वान्की भवनको प्राप्ति हो गई, जो कि कनड़ी और संस्कृतके साथ साथ ख़ासी हिन्दी भी जानते हैं । पंडितजीके भवनमें पहुँच जाने पर उन्हें कामके लिये पहले कुछ सूचनाएँ दी गई, उसके बाद ५ सितम्बरको सर-सावासे चलकर ८ सितम्बर सन् १९२० को हम आरा पहुँच गये । ३१ अक्टूबर तक वहाँ रहना हुआ—अर्थात्, एक महीना २२ दिन भवनमें ठहर कर हमने उसका निरीक्षणदि कार्य किया और साथ ही अनेक विषयोंका अनुसन्धान भी किया जिसका परिचय समय समय पर हितैषीके पाठकोंको दिया जायगा ।

यह भवन श्रीमन्दिरजीके एक बगली कमरेमें स्थापित है । इसमें प्रवेश करते ही सबसे पहली दृष्टि भवनके संस्थापक

स्वर्गीय बाबू देवकुमारजीके चित्र पर पड़ती है, जो कि एक बड़ा ही सुन्दर और मनोमोहक चित्र है। इसे देखनेसे स्वर्गीय बाबूसाहबकी स्मृति ही ताज़ा नहीं होती बल्कि उनकी साक्षात् जीती जागती पुण्यमूर्ति सामने आ जाती है। हमें इस विशाल चित्रको देखनेसे बड़ी ही प्रसन्नता और शान्तिकी प्राप्ति हुई।

भवनका स्थान यद्यपि स्वच्छ और साफ है परन्तु उसमें जगहकी बहुत बड़ी कमी है। एक लम्बेसे कमरेमें भवनकी बारह आलमारियाँ रखी हुई हैं जो सब हस्तलिखित तथा मुद्रित ग्रन्थोंसे परिपूर्ण हैं। इस लम्बे कमरेके मुख पर एक छोटी सी कोठरीके रूपमें दूसरा कमरा है जहाँ बाबू देवकुमारजीका उक्त चित्र दीवारके सहारे एक टेबिल पर उत्तरमुख विराजमान है। इसी कमरेमें पावापुर आदि तीर्थों तथा देशी-विदेशी विद्वानों आदिके कुछ दूसरे चित्र भी हैं जो सब कमरेके ऊपरी भाग तक दीवारों पर लटक हुए हैं। इन चित्रोंमें एक बड़ा चित्र श्रीआदीश्वर भगवान्के समवसरणका है, जिसके तथ्यार करानेमें एक हज़ारसे ऊपर रुपया खर्च होना बतलाया जाता है। चित्रकलाकी दृष्टिसे यह चित्र निःसन्देह एक बड़े ही महत्त्वका चित्र है और इसमें बहुत कुछ बारीकीके साथ काम दिखलाया गया है। परन्तु शास्त्रीय दृष्टिसे इसमें अनेक बातें कुछ आपत्तिजनक भी पाई जाती हैं; जैसे कि आदीश्वर भगवान्के केशोंको कंधों तक फैले हुए दिखलाना और कुछ देवांगनाओंको बूढ़ी चित्रित करना, इत्यादि। अस्तु; बाहर भीतरके इन दोनों कमरोंकी लम्बाई प्रायः ग्यारह गज और चौड़ाई तीन सवा तीन गजके करीब होगी। भवनके सम्बन्धमें जैसी कुछ बातें अभी तक कानोंमें पड़ती आई हैं उनपर

से हमें कभी यह खयाल नहीं होता था कि भवन पेसी तंग जगहमें स्थित होगा। परन्तु अब प्रत्यक्ष दर्शन होने पर सब भ्रम दूर हो गया। भवनमें कई कई शास्त्र एक वेष्टनमें लिपटे हुए रक्खे हैं। यदि उन सबको गत्ते लगाकर अलग अलग वेष्टनोंमें बाँधा जाय तो कई आलमारियोंकी और ज़रूरत पड़े, जिनके लिये भवनमें स्थान नहीं है। स्थानकी इस कमीको दूर करनेके लिये भवनकी एक जुदी बिल्डिंग बनानेकी तजवीज हो रही है, जिसके लिये एक खीने जगह दी है जो कि इस भवनके पास ही है और फंड दस हज़ार रुपयेके करीब जमा है; जैसा कि बाबू निर्मलकुमारजीकी ज़बानी मालूम हुआ। इस भवनका अँगरेज़ी नाम 'दि सेंट्रल जैन ओरियंटल लायब्रेरी' (The Central Jain Oriental Library) है। परन्तु जहाँ तक हम देखते हैं अभी तक इस भवनको आधुनिक लायब्रेरियों जैसा उपयोगी रूप नहीं दिया गया है। अग्वल तो यह एक मन्दिरके कोनेमें स्थित है जहाँ हर एक शब्द आजादीके साथ जा आ नहीं सकता, दूसरे किसी लायब्रेरियन (ग्रन्थालयाध्यक्ष) का स्थायी प्रबन्ध भी इसमें नहीं है और तीसरे इसकी सूचीकी ही पेसी दशा नहीं है जिसके आधार पर कोई ग्रन्थ सहसा अपने स्थानसे निकाल कर देखा जा सके। छपी हुई सूचीमें कुछ ग्रन्थोंके सिवाय शेष ग्रन्थोंके जो नम्बर दिये हैं वे उन नम्बरोंसे भिन्न हैं जो ग्रन्थों पर पड़े हुए हैं और रजिस्ट्रोंमें ग्रन्थ अकारादि क्रमसे अथवा विषयक्रमसे दर्ज नहीं हैं इसलिये एक ग्रन्थकी तलाशमें कभी कभी घण्टों लग जाते हैं—इसीसे साधारण जनता अब तक इस भवनसे उस प्रकारका (आधुनिक लायब्रेरियों जैसा) कोई लाभ नहीं उठा सकी

और न ऐसी हालतमें उठा सकती है। भवनके लिये एक सुव्यवस्थित और प्रामाणिक सूचीका तय्यार करना सबसे बड़ा मुख्य और ज़रूरी कार्य था जिसे वह अब तक पूरा नहीं कर सका। उसकी वर्तमान छपी हुई सूचीकी यदि सम्यक् आलोचना की जाय तो अशुद्धियों त्रुटियों और दोषोंके दिग्दर्शन मात्रसे कई पेज भर जायँ। परन्तु यहाँ पर हमें उसकी विशेष आलोचना करना इष्ट नहीं है। हाँ, इतना ज़रूर बतलाना होगा कि भवनमें ऐसे सैकड़ों हस्तलिखित और मुद्रित ग्रन्थ मौजूद हैं जो सूचीमें दर्ज नहीं हुए। मुद्रित ग्रन्थोंसे अभिप्राय यहाँ उन अंगरेजी पुस्तकोंसे नहीं है जिनकी सूची अलग छपनेके लिये गई हुई है और जो किसी ऐसे आलसी तथा लापवाह प्रेसके गले मढ़ी गई है कि छपकर तय्यार होनेमें ही नहीं आती। इस अंगरेजी सूचीकी बाबत प्रकृत सूचीमें यह सूचना निकाली गई थी कि, 'वह पृथक् छपी है। जो महाशय चाहें, मँगा सकते हैं।' परन्तु खेद है कि साल भरसे अधिक समय बीत जाने पर भी वह अभी तक किसी महाशयको मँगाने पर नहीं मिल सकती। हम समझते हैं, उक्त सूचनाको निकालनेके कारण मन्त्री साहबको भी अब उसका ज़रूर खेद होगा। हस्तलिखित ग्रन्थोंमें ज्यादातर ग्रन्थ कनड़ी लिपिके हैं जो सूचीमें दर्ज होनेसे रह गये हैं और जिनके नाम रजिस्ट्रोंमें भी चढ़े हुए नहीं हैं। इस प्रकारकी गलतियोंका खास कारण यही मालूम होता है कि जिन कनड़ी विद्वानोंने भवनमें काम किया है उनमेंसे अधिकांशने या तो स्वतः और अधिकारी वर्गकी प्रेरणासे प्रायः चलता काम किया है—थोड़े समयमें बहुतसा काम निकालना अथवा दिखलाना चाहा है, ग्रन्थोंके

बंडलोंका एक एक पत्र उलटपुलट कर नहीं देखा, बल्कि दस दस बीस बीस पत्रोंको एक साथ उलटा है और या बंडलके अन्तमें जिस ग्रन्थका नाम पाया है वही नाम अनेक ग्रन्थोंवाले उस समूचे बंडलको दे दिया है। इसीसे बहुतसे छोटे मोटे ग्रन्थ सूचीमें दर्ज होनेसे रह गये और अनेक ग्रन्थोंकी पत्रसंख्या तथा श्लोकसंख्या अपने नियत परिमाणसे बढ़ गई। साथ ही कुछ बंडल (कागज पर) ऐसे भी हैं जिनकी सूची तय्यार ही नहीं की गई। अधिकारीवर्गकी ओरसे यह कहा जाता है कि, हम लोग कनड़ी लिपिसे बिलकुल अनभिज्ञ हैं इसलिये कनड़ीके विद्वानोंने इन ग्रन्थों परसे जैसी कुछ सूची तय्यार करके दी वैसी ही हमने छपवा दी है; हम उसकी क्या जाँच कर सकते थे। यह कहना यद्यपि कुछ अंशोंमें ठीक हो सकता था, यदि सूचीका शेषांश सन्तोषजनक और विश्वसनीय होता। परन्तु ऐसा नहीं है। और इसलिये जब हम देवनागरी लिपिके ग्रन्थोंका भी बहुत कुछ ऐसा गड़बड़ हाल पाते हैं तो उक्त कहनेका हृदय पर कुछ भी वजन तथा असर बाकी नहीं रहता और यही खयाल होता है कि यह सब उपेक्षा और लापरवाहीका नतीजा है। सूचीके तय्यार करनेमें बहुत कम परिश्रम और सावधानीसे काम लिया गया है और इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि अब तक इस सूचीका काम सुव्यवस्थित रूपसे नहीं चलाया गया।

देवनागरी लिपिके हस्तलिखित जैन-ग्रन्थोंमें भी छोटे बड़े पचासों ग्रन्थ ऐसे हैं जो सूचीमें दर्ज नहीं हुए हैं और अजैन हस्तलिखित ग्रन्थोंकी तो बात ही जुदी है। उनकी एक अलग आलमारी भरी हुई है जिसमें सैकड़ों ग्रन्थ होंगे और जिनका सूचीमें कहीं जिकर भी नहीं है। लगभग

पाँच वर्ष हुए एक स्थानसे दो ग्रन्थ भवनको भेजे गये थे और यह लिखा गया था कि हमें इनके नामादिकका कुछ पता नहीं चलता, आप किसी विद्वानको दिखलाकर इनका पता चलाना और भवनमें विराजमान करना। ये दोनों ग्रन्थ छपी हुई सूचीमें तो क्या भवनके किसी रजिस्टरमें भी दर्ज नहीं हुए और न भवनकी तरफसे इस बातका कोई प्रयत्न हुआ कि किसी विद्वानको दिखलाकर उनका परिचय प्राप्त किया जाय। हाँ, पत्रके साथ दोनों ग्रन्थ भवनमें रखे हुए ज़रूर हैं—इनमेंसे एक ग्रन्थ अपभ्रंश प्राकृत भाषाका 'सन्मतिचरित्र' है जिसे रैधू कविने बनाया है और जो वि० संवत् १६४८ का लिखा हुआ है; दूसरा एक छोटासा खण्डित संस्कृत ग्रन्थ है जो अपने साहित्य परसे कोई साधारण ग्रन्थ जान पड़ता है। इससे पाठक समझ सकते हैं कि पिछले कुछ सालोंमें भवनमें कैसा दित्तचरूपीके साथ काम हुआ है !

देवनागरी अक्षरोंके हस्तलिखित संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थोंकी जो सूची मुद्रित सूचीमें पृष्ठ ४१ से ५४ तक दर्ज है उसकी हमने स्वयं मूल ग्रन्थोंपरसे जाँच की है। जाँचसे हमें सैकड़ों त्रुटियाँ, अशुद्धियाँ और भूलें मालूम हुई हैं। उदाहरणके तौर पर दो चार नमूने उनके नीचे दिखलाये जाते हैं:—

१—पृष्ठ ४४ पर 'तत्त्वार्थरत्नदीप' नामका ग्रन्थ 'धर्मकीर्ति' का बनाया हुआ लिखा है और उसकी पत्रसंख्या २७२ दी है। परन्तु वास्तवमें यह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्रकी 'तत्त्वार्थरत्नदीपिका' नामकी कनड़ी टीका है जो देवनागरी अक्षरोंमें लिखी हुई है और इसकी प्रत्येक सन्धिमें कर्ताका नाम बहुत स्पष्ट रीतिसे 'बालचन्द्र मुनि' दिया

है, पत्रसंख्या इसकी २६१ है और साथ ही ग्रन्थके अन्तमें श्लोकसंख्या भी ७०३६ दी है जिसे सूचीमें दर्ज नहीं किया। इस तरह इसके सम्बन्धकी प्रायः सभी बातें सूचीमें गलत दर्ज हुई हैं। बात यह है कि इस ग्रन्थके अन्तमें किसी दूसरे ग्रन्थका एक प्रकरण नकल किया हुआ है जिसमें धर्मकीर्तिकी बहुत प्रशंसा की गई है। सूची तय्यार करनेवाले महाशयने इतने परसे ही इस समूचे ग्रन्थको धर्मकीर्तिका बना दिया और ग्रन्थके पत्रोंको उलटनेका कष्ट नहीं उठाया। साथ ही ग्रन्थनाममें भी कुछ थोड़ी सी भूलको स्थान दे दिया।

२—पृष्ठ ४६ पर ६५ नम्बरकी 'पंचपरमेष्ठिपूजा' का कर्ता 'रत्नसागर' ग़लत लिखा है, इसका कर्ता 'यशोनन्दी' है। सूची बनानेवालोंने लिपिकर्ताको ग्रन्थकर्ता समझ लिया है !

३—पृष्ठ ४४ पर 'जिनमुखावलोकनकथा' का कर्ता 'संकलकीर्ति' के स्थानमें 'रत्नकीर्ति' लिखा है और पत्रसंख्या भी ५ के स्थानमें १४ ग़लत दर्ज की है। ग्रन्थके नाममें 'कथा' से पहले 'वत' शब्द और होना चाहिये था और साथ ही उसकी श्लोकसंख्या भी ८७ दर्ज करनी चाहिये थी।

४—पृष्ठ ४८ पर 'ब्रह्मचर्याष्टक' नामका जो ग्रन्थ १११ पत्रसंख्यावाला दिया है वह वास्तवमें सटीक 'पद्मनदिपंचविंशतिका' है। अंतमें ब्रह्मचर्याष्टक नामका प्रकरण देखकर ही समूचे ग्रन्थको यह ग़लत नाम दिया गया है।

५—पृष्ठ ५० पर 'शासनप्रभावना' नामका एक ग्रन्थ विनयचंद्रका बनाया हुआ लिखा है जो बिलकुल ग़लत है। वास्तवमें यह ग्रन्थ पं० आशाधरके प्रतिष्ठासरोद्धार (जिनयज्ञकल्प) नामके ग्रन्थका

टिप्पण-संग्रह है। सूची बनानेवालोंको टिप्पणके कुछ अन्तिम शब्दों परसे ग्रन्थके नामादिकका यह सब भ्रम हुआ है। इस ग्रन्थका पता चलाना खास अनुभवसे सम्बन्ध रखता था; क्योंकि इसमें मूल ग्रन्थ दिया हुआ नहीं है, खालिस टिप्पण टिप्पणका संग्रह किया गया है।

१—पृष्ठ ५३ 'त्रिभंगी' नामका एक ग्रन्थ भीकनकनंदी आचार्यका बनाया हुआ लिखा है और उसकी श्लोकसंख्या १४०० दी है। वास्तवमें कनकनंदी आचार्यका बनाया हुआ इतनी श्लोकसंख्यावाला त्रिभंगी नामका यह ग्रन्थ नहीं है। इसमें नेमिचंद्रादिककी कई त्रिभंगियाँ शामिल हो रही हैं और इसलिये इसे 'त्रिभंगीसंग्रह' लिखना चाहिये था। साथ ही, ग्रन्थकर्ताके नीचे नेमिचंद्रादिका नाम भी दिखलाना चाहिये था और यदि कनकनंदीकी त्रिभंगीको अलग दिखलाना इष्ट था तो उसका पूरा नाम 'विस्तर-सत्वत्रिभंगी' देकर श्लोकसंख्याके कोष्ठक में ४= अथवा ५२ गाथाएँ दर्ज करनी चाहिये थीं; क्योंकि इसमें कनकनंदीकी त्रिभंगीके दो पाठ संग्रह किये गये हैं जिनमें से एकमें ४= और दूसरीमें ५२ गाथाएँ हैं। साथ ही पत्रसंख्यामें भी फेरफार होना चाहिये था और तब दूसरी त्रिभंगियोंको अलग दिखलानेकी भी जरूरत थी।

इस तरह ग्रन्थनाम, ग्रन्थकर्ता, पत्रसंख्या, श्लोकसंख्या और लिपिसंबन्ध सम्बन्धी सैकड़ों भूलों और अशुद्धियाँ इस देवनागरी लिपिके ग्रन्थोंकी सूचीमें पाई जाती हैं। कनड़ी लिपिके ग्रन्थोंकी सूचीका भी प्रायः ऐसा ही हाल है। यद्यपि इस सूचीकी पूरी जाँच अभी तक समाप्त नहीं हुई—वह कुछ समय लेगी, तो भी जो कुछ जाँच हमारे सामने हो सकी है

उससे इस सूचीमें भी सैकड़ों त्रुटियों, अशुद्धियों और भूलोंका पता चलता है। नमूनेके तौर पर दो एक उदाहरण इसके भी नीचे दिये जाते हैं:—

१—पृष्ठ ११ पर 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' नामका एक १४६०० श्लोकसंख्यावाला ग्रन्थ 'नेमिचंद्र' आचार्यका बनाया हुआ लिखा है और उसकी भाषा प्राकृत दी है जिससे पढ़नेवालोंको यही खयाल होता है कि नेमिचंद्राचार्यका बनाया हुआ इस नामका भी कोई महान् प्राकृत ग्रन्थ है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। वास्तवमें यह गोमटसारकी कनड़ी टीका है जो केशववर्णीकी बनाई हुई है।

२—पृष्ठ १२ पर 'तत्त्वार्थरत्नप्रदीपिका' नामका एक ग्रन्थ 'उमास्वामी' का बनाया हुआ लिखा है, उसकी भाषा संस्कृत और श्लोकसंख्या ७५०० दी है। वास्तवमें यह तत्त्वार्थसूत्रकी वही कनड़ी टीका है जिसको बालचंद्र मुनिने बनाया है और जिसका उल्लेख हमने ऊपर देवनागरी लिपिके ग्रन्थोंमें भी किया है। इसकी श्लोकसंख्या ७०३६ है।

३—पृष्ठ २४ पर 'मरणक्रिया' नामका एक ग्रन्थ दिया है। यह ग्रन्थ वास्तवमें ब्रह्मसूरिका प्रतिष्ठातिलकांतर्गत 'त्रिवर्णाचार' नामका संस्कृत ग्रन्थ है। ग्रन्थके अन्तमें मरणसम्बन्धी क्रियाका विधान होनेसे सूची बनानेवालोंने समूचे ग्रन्थका नाम ही 'मरणक्रिया' बना डाला है।

४—पृष्ठ ६ 'कल्याणकारक' नामके वैद्यक ग्रन्थको संस्कृत भाषाका लिखा है जो कि प्रायः कनड़ी भाषाका ग्रन्थ है और पत्रसंख्या भी ४६ के स्थानमें ४४ गलत दर्ज की है।

दोनों प्रकारकी सूचियोंके इन उदाहरणोंसे साफ़ ज़ाहिर है कि सूची बनानेका काम प्रकृत विषयके अनुभवी पुरुषों

द्वारा नहीं हुआ, चाहे वे जैन हों या अजैन, अथवा यों कहिये कि वैसे किसी अनुभवी पुरुषकी देखरेखमें यह सब काम नहीं हुआ। इसीसे काम यथार्थ नहीं हो सका। जो सूची इस प्रकार अशुद्धियोंसे परिपूर्ण हो और गलत सूचनाएँ देती हो, हमारी रायमें, वह सूची बिलकुल रह की जानी चाहिये और उसका एक रुपये मूल्यमें बेचा जाना तो किसी तरह भी उचित नहीं है।

भवनको, जहाँ तक बने शीघ्र, हस्त-लिखित ग्रन्थोंकी एक प्रामाणिक सूची तैयार करा कर प्रकाशित करनी चाहिये। ऐसी एक सूचीकी बहुत बड़ी ज़रूरत है। हमारी रायमें वह सूची विषय-वार—विषयविभागको लिये हुए—होनी चाहिये और उसमें १ ग्रन्थका नम्बर, २ ग्रन्थका नाम, ३ ग्रन्थकर्ताका नाम, ४ ग्रन्थकी भाषा, ५ ग्रन्थका निर्माण-समय, ६ लिपि-समय, ७ श्लोक-संख्या और ८ विशेष विवरण ऐसे आठ कोष्टक ज़रूर होने चाहियें। ग्रन्थ किस लिपिमें है, कागज़ पर है या ताड़पत्र पर, मुद्रित हो चुका है या कि नहीं और किस अवस्था-में है, इस प्रकारकी सब सूचनाएँ विशेष विवरणके कोठेमें दी जानी चाहियें। कुछ ग्रन्थकर्तादिके परिचयादि सम्बन्धी बातें फुटनोटके तौर भी दी जा सकती हैं। प्रत्येक विषयके ग्रन्थ अपने अपने विभाग-में अकारादि क्रमसे रक्खे जायँ, और पुस्तकमें तीन अनुक्रमणिकाएँ ज़रूर लगाई जायँ, एक विषयानुक्रमणिका, दूसरी ग्रन्थानुक्रमणिका और तीसरी ग्रन्थकर्ता-नुक्रमणिका। इसके सिवाय एक लिस्ट उन ख़ास ख़ास दिग्गम्बर-जैनग्रन्थोंके नामा-दिककी भी साथमें जोड़ी जाय जो भवन-में मौजूद नहीं हैं, परन्तु दूसरे भंडारोंमें पाये जाते हैं और जिनके संग्रह करनेकी

भवनको ज़रूरत है। दूसरे भंडारोंकी बहुतसी सूचियाँ भवनमें मौजूद हैं जो शुरु शुरुमें एकत्र की गई थीं। उनका अब तक प्रायः कुछ भी उपयोग किया गया मालूम नहीं होता। कई सूचियाँ तो शायद रजिस्टरमें भी दर्ज नहीं हुई हैं। इन सूचियों परसे उक्त लिस्ट बहुत कुछ तैयार हो सकती है और भी दूसरे भंडारोंकी सूचियाँ इस कामके लिये मँगाई जा सकती हैं। अभी हमने ऐसी ही कुछ सूचियों परसे संस्कृत तथा प्राकृतके ख़ास ख़ास ग्रन्थोंकी एक लिस्ट उतारी है जो भवनमें मौजूद नहीं हैं और जिनकी संख्या दो सौके करीब है। यदि इस लिस्टमें कनड़ी आदि दूसरी भाषाओंके ग्रन्थ भी शामिल कर दिये जाते तो संख्या शायद तीन सौसे भी अधिक हो जाती। कितनी ही सूचियाँ भवनमें ऐसी रह गई हैं जिन्हें हम देख नहीं सके। इसके लिये भवनमें एक ख़ास रजिस्टर खुलना चाहिये। जिसमें इन दूसरे भंडारोंकी सूचियों परसे उन ख़ास ख़ास ग्रन्थोंका नामादिक दर्ज किया जाय जो भवनमें मौजूद नहीं हैं और एक कोष्टकमें अंकों द्वारा उन भंडारोंके नाम सूचित किये जायँ जिन जिनमें प्रत्येक ग्रन्थ मौजूद है ताकि उन भंडारोंमेंसे जिस भंडारसे भी ग्रन्थकी प्राप्ति हो सके उससे वह मँगाया जाय। भंडारोंके नाम रजिस्टरके शुरुमें पूरे पते सहित नम्बर डालकर दर्ज करते रहना चाहिये। इस रजिस्टर परसे उक्त लिस्ट सहजमें ही उतार कर सूचीके साथमें जोड़ी जा सकेगी।

इस तरह पर जो सूची तैयार होगी वह सर्वसाधारणके लिये बहुत ज़्यादा उपयोगी और कार्यकारी होगी। उसके द्वारा सहजमें ही दिग्गम्बर-जैनग्रन्थों और उनके कर्ताओंका बहुत कुछ परिचय

मिल सकेगा। साथ ही यह भी मालूम हो सकेगा कि एक एक विषयके कितने कितने ग्रन्थ हैं और किस किस विद्वान्ने कौन कौन ग्रन्थ बनाये हैं।

संपूर्ण ग्रन्थोंकी जाँच हो जानेके बाद भवनमें 'कार्ड सिस्टम' आदिके द्वारा इस ढंगसे काम होना चाहिये जिससे इस प्रकारकी सूची जल्द तैयार हो सके।

सूचीके अतिरिक्त भवनमें नवीन नवीन ग्रन्थोंका संग्रह होनेकी भी बहुत बड़ी ज़रूरत है। संग्रहका यह कार्य बहुत असेंसे बन्द है। शुरू शुरूमें जो कुछ संग्रह हुआ था उसमें बादको बहुत कम वृद्धि हुई मालूम होती है। भवनमें हस्तलिखित ग्रन्थोंका, खासकर कनड़ी लिपिके ग्रन्थोंका अधिकांश संग्रह ब्रह्मचारी नेमिसागरजीकी कृपाका फल है, जो कि भवनके ट्रस्टी भी हैं। दक्षिण प्रान्तके बहुतसे भंडारोंकी सूचियाँ उतरवाकर भिजवा देना भी उन्हींका काम था। उनसे यदि बराबर काम लिया जाता तो अबतक दक्षिणका बहुतसा ग्रन्थसमूह खिंचकर भवनमें आ जाता और एक अपूर्व संग्रह हो जाता। संग्रह यद्यपि अब भी अच्छा है परन्तु जैसा चाहिये वैसा नहीं है। हमारी रायमें ब्रह्मचारीजीको फिरसे इस काममें नियोजित करना चाहिये और संग्रहके लिये उन्हें सब प्रकारकी सुविधाएँ देनी चाहियें। उनके पास भवनकी एक संशोधित सूची और खासकर वह लिस्ट भेजनी चाहिये जो हमने उन ग्रन्थोंकी तैयार कराई है जो कि भवनमें मौजूद नहीं हैं, जिससे वे उन्हीं ग्रन्थोंका संग्रह कर सकें जिनकी भवनको ज़रूरत है। एक ग्रन्थकी कई कई प्रतियोंके संग्रहकी विशेष ज़रूरत नहीं है, सिवाय उन प्रतियोंके जो कि प्राचीनता आदिकी दृष्टिसे कुछ महत्व रखती हों।

कनड़ी लिपिके संग्रहमें, कनड़ी भाषाके ग्रन्थों अथवा कनड़ी टीकाओंको छोड़कर, ऐसे ग्रन्थोंकी अभी बहुत कमी है जिनकी भाषा संस्कृत तथा प्राकृत है और जो देवनागरी लिपिमें अन्यत्र उपलब्ध न होते हों। परन्तु ऐसे बहुतसे ग्रन्थ दक्षिणके भंडारोंमें मौजूद हैं और इसलिये उनकी प्राचीन अथवा नवीन प्रतियोंके भवनमें आनेकी बड़ी ज़रूरत है। इसके लिये, सूची तैयार हो जाने पर, पं० शान्तिराजय्याजीको भी यदि कुछ समयके वास्ते कर्णाटक प्रान्तमें भेजा जाय तो बहुत कुछ काम हो सकेगा। आपकी रुचि अब ऐसे कामोंमें विशेष पाई जाती है और आपने पौने दो महीने तक हमारे साथ रह कर बराबर भवनमें रात दिन प्रेमपूर्वक काम किया है। बाकी देवनागरी लिपिमें जो ग्रन्थ जयपुरादिकके भंडारोंमें पाये जाते हैं और भवनमें मौजूद नहीं हैं उनकी वहाँसे ही नकलें कराकर मँगानी चाहियें। जिनकी वहाँ नकलें न हो सकें उनकी नकलोंका भवनमें प्रबन्ध किया जाय। भवनमें दो एक लेखकोंके स्थायीरूपसे रहनेकी ज़रूरत है जो भवनके संग्रह परसे दुष्प्राप्य तथा अलभ्य ग्रन्थोंकी और प्रतिके लिये बाहरसे आये हुए ग्रन्थोंकी नकलका काम किया करें और इस तरह भवनकी तथा बाहरवालोंकी ज़रूरतोंको कुछ अंशोंमें पूरा कर सकें। परन्तु सूची आदि सम्बन्धी यह सब काम यथेष्ट रीतिसे, तभी हो सकता है जब कि अधिकारीवर्गकी ओरसे इस तरह खास लक्ष्य दिया जाय और वे इस कार्यकी उपयोगिता तथा महत्ताको समझ कर हर तरहसे इसके पूरा करनेमें कटिबद्ध हों। साथ ही काम करनेवाले योग्य व्यक्तियोंको, उनके काममें, यथा-शक्ति सब प्रकारकी सहायता और सह-

लियें (सुविधाएँ) प्रदान करें । भवनके मन्त्री कई सालसे श्रीयुत बाबू सुपाश्व-दासजी गुप्त बी० ए० हैं । आप एक सुयोग्य और नवयुवक व्यक्ति हैं; चाहें तो भवनका इस प्रकार बहुत कुछ काम कर सकते हैं और उसे अच्छी सहायता पहुँचा सकते हैं । परन्तु आज कल आप डिपुटी कलकृरीके पद पर प्रतिष्ठित हैं । इस पदसम्बन्धी तथा दूसरे कामोंके कारण आपको अनवकाशकी बड़ी शिकायत है और शायद यही वजह है कि आप मन्त्रीकी हैसियतसे एक दिन भी भवनमें हमें कुछ काम दिखलाने, बतलाने अथवा समझानेके लिये नहीं आ सके । ऐसी हालतमें उनसे कोई आशा नहीं की जा सकती कि वे इस काममें कुछ सहायता दे सकेंगे । तब, भवनके दूसरे शुभचिन्तकोंको—खासकर बाबू निर्मलकुमार, बाबू बच्चूलाल और कुमार देवेन्द्रप्रसाद जीको—इस विषयमें खास तौरसे सावधान और बद्धपरिकर होनेकी ज़रूरत है । बाबू निर्मलकुमारजी यद्यपि, बनारस कालिजमें पढ़ते हैं और कालिजके कामसे आपको अवकाश कम है तो भी हर तातीलमें आप बराबर आरा आते हैं और अपनी रियासतके कारोंबारको देखते हैं । उसके साथमें आपको भवनका काम भी कुछ नियमित रूपसे देखना चाहिये और उसे भी कुछ समय देना चाहिये । यह पौधा आपके पिताहीका लगाया हुआ है और उनकी एक बड़ी भारी यादगार है, इसलिये इसे हर तरहसे सींचसाँच कर बढ़ाना, सुरक्षित रखना और इसके सुमधुर फलोंको चखनेका जनताको अवसर देना यह सब आपके पुत्रकर्तव्योंमेंसे मुख्य कर्तव्य कर्म है । आपकी थोड़ी भी तवज्जह और भवनमें बैठकर थोड़ासा भी काम करना दूसरोंको बहुत कुछ करनेके

लिये प्रेरित करेगा । हम समझते हैं जब आप भवनकी बागडोर स्वयं अपने हाथोंमें लेकर नियमपूर्वक काम चलाएँगे तब कुमार देवेन्द्रप्रसादजी जैसे सज्जन, परोपकारी और सुयोग्य व्यक्ति भी बहुत कुछ कर सकेंगे; क्योंकि उन्हें ऐसे कामोंसे खास दिलचस्पी है और उनका शुरूसे बहुत कुछ परिश्रम भवनमें लगा हुआ है । भवनका काम नियमबद्ध और सुव्यवस्थित रूपसे न होनेके कारण ही शायद कुमार साहब आजकल इससे कुछ उपेक्षित जान पड़ते हैं—उपमन्त्री होते हुए भी अपनेको भवनका उपमन्त्री नहीं समझते, कहते हैं कि हम कई बार इस्तीफा पेश कर चुके हैं । इसमें सन्देह नहीं कि भवनका काम सुव्यवस्थित रूपसे नहीं हो रहा है और न उसमें नियमावलीके नियमोंकी पाबन्दी की जाती है । जबसे भवनके प्रतिष्ठित सभासदोंमें हमारी नियुक्ति हुई है और जिसे कई साल हो चुके हैं तबसे एक बार भी हमें भवनकी किसी मीटिंगकी सूचना नहीं दी गई और न किसी मीटिंगकी कार्रवाईसे ही सूचित किया गया । इससे भी पाठक समझ सकते हैं कि भवनमें कितना व्यवस्थित रूपसे काम हो रहा है । कई वर्षोंका हिसाब भी अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ, जिसके प्रकाशित होनेकी बड़ी ज़रूरत है । अतः बाबू निर्मलकुमारजीको इस ओर ध्यान देकर इन सब अव्यवस्थाओंको दूर करानेका शीघ्र यत्न करना चाहिये और ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये जिससे भवनका सब काम नियमित रूपसे होता रहे और वह संस्थापकके उद्देश्योंको पूरा करनेमें समर्थ हो सके । साथ ही, भाई देवेन्द्रप्रसादजीको भी अब इसके सुधारके लिये खास तौरसे यत्न करना चाहिये । रहे बाबू बच्चूलालजी; आप एक बुजुर्ग आदमी हैं, बाबू देव-

कुमारजीके निकटसम्बन्धी हैं, उनकी स्टेटके एकजीक्यूटर रह चुके हैं, भवनके ट्रस्टी हैं, भवनसे प्रेम रखते हैं, जिस मन्दिरमें भवन स्थापित है उसके प्रबन्धकर्ता हैं, भवनके पास ही रहते हैं और प्रतिदिन भवनमें आया जाया करते हैं। हालमें आप अपनी गवर्नमेंट पोस्टसे रिटायर्ड भी हो चुके हैं और बहुतसी भंक्तोंसे अलग हैं। इसलिये हमारी आपसे प्रार्थना है कि आप इस भवनको एक आदर्श भवन बनानेका जीजानसे यत्न करें और बन सके तो अपना शेष जीवन इसीके द्वारा जिनवाणी माताकी पवित्र सेवामें अर्पण कर दें। आपकी प्रेरणा और सलाह-मशवरेसे भी सब कुछ हो सकता है। भवनमें रुपयेकी कमी नहीं है और यदि कमी हो भी तो वह काम दिखलाकर सहजहीमें पूरी की जा सकती है।

हम चाहते थे कि भवनकी एक मीटिंग हमारे सामने होकर बहुतसी बातों पर विचार हो जाय। कुमार देवेन्द्र-प्रसादजीने इसके लिये कोशिश भी की। परन्तु खेद है कि वह नहीं हो सकी! आशा है अब बादमें मीटिंग होकर सब व्यवस्था ठीक की जायगी और भवनका जो कार्यक्रम निश्चित होगा उसकी सर्व-साधारणको सूचना दी जायगी। भवनकी कार्यकारिणी सभाका ध्यान हम इस निरीक्षणकी ओर खास तौरसे आकर्षित करते हैं।

३१-१०-२० ।

मल्लिषेणका विशेष परिचय ।

विद्वद्रत्नमालाके प्रथम भागमें श्रीयुत पंडित नाथूरामजी प्रेमीने मल्लिषेणाचार्यका कुछ परिचय दिया है जो कि 'उभय-भाषाकविचक्रवर्ती' कहलाते थे और जिन्होंने मुलगुन्द नगरके श्रीजैनधर्मालयमें ठहर कर शक संवत् १६६६ में महापुराणको बनाकर समाप्त किया था।

इस महापुराणकी प्रशस्तिके आधार-पर प्रेमीजी ने लिखा था कि, "मल्लिषेणेने ('श्रीजिनसेनसूरितनुजेन', इस वाक्यके द्वारा) अपनेको श्रीजिनसेनसूरिका पुत्र बतलाया। इससे जान पड़ता है कि गृहस्थजीवनमें जो इनके पिता होंगे उन्होंने पीछेसे दीक्षा ले ली होगी और मुनिजीवनमें उनका नाम 'जिनसेन' रक्खा गया होगा।" परन्तु ये जिनसेन कौन थे, किस गुरुपरम्परामें उत्पन्न हुए थे और मल्लिषेणकी गुरुपरम्परा क्या थी, इन सब बातोंका आप कोई निर्णय नहीं कर सके थे। साथ ही, यह भी मालूम नहीं कर सके थे कि पद्मावतीकल्प (भैरवपद्मावतीकल्प) और ज्वालनीकल्प नामके जो दो ग्रन्थ मल्लिषेणके नामसे प्रसिद्ध हैं वे कौनसे मल्लिषेणचार्यके बनाये हुए हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य महाराजकी कृतियोंमें नागकुमार काव्यका—नागकुमार पंचमी कथाका—परिचय देते हुए आपने यह भी लिखा था कि "इस ग्रन्थमें कर्ताने अपनी प्रशस्ति नहीं दी है।" अस्तु; हालमें, जैन-सिद्धान्तभवन आराका निरीक्षण करते हुए उसके ताडपत्रोंके ग्रन्थसंग्रह परसे, हमें इस ग्रन्थकी दो प्रतियाँ पेशी उपलब्ध हुई हैं जिनमें ग्रन्थकर्ताकी प्रशस्ति लगी हुई है और इसलिये यह बात बाकी नहीं रहती कि ग्रन्थकर्ताने इस ग्रन्थमें अपनी प्रशस्ति नहीं दी। प्रशस्ति ज़रूर दी है,

परन्तु यह लेखकोंकी कृपका फल है कि वह किसी प्रतिमें पाई जाती है और किसीमें नहीं ! 'भैरवपद्मावतीकल्प' नामका ग्रन्थ भी हमें उक्त भवनमें प्रशस्तिसहित उपलब्ध हुआ है और 'ज्वालनीकल्प' नामके ग्रन्थकी प्रशस्ति हमारे पास पहलेसे मौजूद थी, जोकि सेठ माणिकचन्द्रजी बम्बईके 'प्रशस्तिसंग्रह' नामके रजिस्टर परसे उतारी गई थी। इन तीनों प्रशस्तियोंके आधार पर आज हम श्रीमल्लिषेणाचार्यका कुछ विशेष परिचय देने और उक्त बातोंका निर्णय करनेके लिये समर्थ हुए हैं।

नागकुमार काव्यकी वह प्रशस्ति इस प्रकार है—

“नितकषायरिपुगुणवारिधि-
 नियतचारुचरित्रतपोनिधिः ।
 जयतु भूपति (कि) रीढविघटित-
 क्रमयुगोजिन (त) सेनमुनीश्वरः ॥१॥
 भजनि तस्य मुनेर्वरहीक्षितो
 विगतमानमदोदुरितान्तकः ।
 कनकसेनमुनिर्मुनिपुंगवो
 वरचरित्रमहाव्रतपाळकः ॥२॥
 (मि) तमदोऽजनि तस्य महामुनेः
 प्रथितवान् जिनसेनमुनीश्वरः ।
 सकळशिष्यवरो हतमन्मथो
 भवमहोदधितारतरं (ड) कः ॥३॥
 तस्यानुजश्चारुचरित्रवृषाः
 प्रख्यातर्कातिर्भुवि बुण्यमूर्तिः ।
 नरेन्द्रसेनो जितवादिसेनो
 विशाततत्त्वो जितकामसूत्रः ॥४॥
 तच्छिष्यो विबुधाप्रणीगुणनिधिः
 श्रीमल्लिषेणाह्वयः ।
 संजातः सकलागमेषु निपुणो
 वाग्देवतांकृतः ॥

तेनैषा कविचक्रिणा विरचिता
 श्रीपंचमीसत्कथा ।
 भव्यानां दुरितौघनाशनकरी
 संसारविच्छेदिनी ॥५॥
 स्पष्टं श्रीकविचक्रवार्तिगणिना
 भव्याब्जघर्माशुना,
 ग्रन्थी पंचशती मया विरचिता
 विद्वज्जनानां प्रिया ।
 तां भक्त्या विलिखन्ति चारुवचनै-
 र्व्यावर्ण्ययंत्यादरात्,
 ये शृण्वन्ति मुदा सदा सहृदया-
 स्तेयांति मुक्तिश्रियं ॥६॥”

इस प्रशस्तिसे मालूम होता है कि, कषायविजयी, गुणोंके समुद्र, नियत रूपसे चारुचरित्रका आचरण करनेवाले, तपोनिधि ऐसे 'अजितसेन' नामके एक मुनीश्वर हो गये हैं जिनके चरणोंको राजाओंके मुकुट छूते थे। इन अजितसेन मुनिराजके प्रधान शिष्य 'कनकसेन' मुनि थे, जिन्हें विगतमानमद, दुरितांतक, वरचरित्र, महाव्रतपालक और मुनिपुंगव लिखा है। महामुनि कनकसेनके सम्पूर्ण शिष्योंमें मुख्य शिष्य 'जिनसेन' मुनि थे, जिन्हें जितमद, हतमन्मथ और भवमहोदधितारतरंडक विशेषणोंके साथ स्मरण किया है। इन जिनसेन मुनिके छोटे भाईका नाम नरेन्द्रसेन था। ये नरेन्द्रसेन चारुचरित्रवृत्ति थे, पुण्यमूर्ति थे, विशात-तत्त्व थे, जितकामसूत्र थे, इन्होंने वादियोंके समूहको जीता था और पृथ्वीपर इनका यश विख्यात था और उनके शिष्यका नाम श्रीमल्लिषेण था। मल्लिषेण विबुधोंमें अग्रगण्य, गुणनिधि, सम्पूर्णशास्त्रोंमें निपुण, वाग्देवता (सरस्वती)से अलंकृत, भव्यकमलोंके सूर्य और कविचक्रवर्ती थे। उन्हीं मल्लिषेण गण्डिने पाप-

समूहका नाश करनेवाली और संसार-विच्छेदिनी यह पाँच सौ श्लोक परिमाण, श्रीपंचमी कथा रची है । जो सहृदय मनुष्य भक्तिके साथ इसे लिखते हैं, आदरके साथ सुन्दर वचनों द्वारा इसका व्याख्यान करते हैं और प्रसन्नचित्त होकर सुनते हैं वे सदा मुक्तिलक्ष्मीको प्राप्त होते हैं ।

प्रशस्तिमें मल्लिषेणसे पहले 'तच्छिष्यः' पदका प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ होता है 'उनका शिष्य' । 'तत्' (उनका) शब्दका सम्बन्ध नरेंद्रसेन और जिनसेन दोनोंके साथ लगाया जा सकता है । परन्तु वास्तवमें उसका वाच्य नरेंद्रसेन नहीं किन्तु जिनसेन है, जैसा कि आगे चलकर भैरवपद्मावतीकल्प और ज्वालिनीकल्प नामके ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंसे मालूम होगा । इन दोनों प्रशस्तियोंमें जिनसेनके बाद 'तदीयशिष्योऽजनि मल्लिषेणः,' 'तस्याः प्रशिष्योऽजनि मल्लिषेणः' इन वाक्योंके द्वारा साफ तौरसे मल्लिषेणको जिनसेनका शिष्य सूचित किया है और जिनसेनके छोटे भाई नरेंद्रसेनका नाम भी नहीं दिया । मल्लिषेणजी जिनसेनाचार्यके अग्रशिष्य थे और इसलिये महापुराणकी प्रशस्तिमें उन्होंने अपनेको जो जिनसेनका पुत्र लिखा है उसका अभिप्राय शिष्य ही जान पड़ता है—आचार्योंका शिष्यवर्ग भी उनकी संतति कहलाता है ।

भैरवपद्मावतीकल्पकी प्रशस्ति इस प्रकार है:—

“सकन्नृपमुकुटघटित-

चरणयुगः श्रीमदजितसेनगणी ।

जयतु दुरितापहारी,

भव्यौघभवार्णवोसारी ॥५५॥

जिनमयागमवेदि (दी),

गुरुतरसंसारकाननोच्छेदी ।

कर्मन्धनदहनपटुः-

स्तच्छिष्यः कनकसेनगणी ॥५६॥

चारित्रभूषितांगो,

निःसंगो माधितदुर्नयानंगः ।

तच्छिष्यो जिनसेनो,

बभूव भव्याब्जधर्माशुः ॥५७॥

तदीय शिष्योऽजनि मल्लिषेणः-

सरस्वतीदशवरप्रसादः ।

तेनोदितो भैरवदेवतायाः-

कल्पः समासेन चतुःशतेन ॥५८॥

यावद्वारिधिभूधर-

तारागणगगनचंद्रदिनपतयः ।

तिष्ठतु भुवि तावदयं

भैरवपद्मावतीकल्पः ॥५९॥

ज्वालिनीकल्पकी प्रशस्ति निम्नलिखित है:—

“श्रीमतोजितसेनस्य सूरिः (रेः)

कर्मातिधूरिणा (णः) ।

शिष्यः कनकसेनोभू-

द्वणिकमुनिजनस्तुतः ॥१॥

तदीय शिष्यो जिनसेनसूरिः

तस्याग्रशिष्याऽजनि मल्लिषेणः

वाग्देवतालक्षितचारुवक्त्र-

स्तेनाराचि शिञ्जिजादेविकल्पः ॥२॥

कुमतिमतविभेदि (दी) जैनतत्त्वार्थवेदि (दी),

हतदुरितसमूहः क्षीणसंसारमोहः ।

भवजलधितरंडो वाग्वाक्त्ररण्डे (?)

विबुधकुमुदचंद्रो मल्लिषेणो गणोद्रे ॥३॥”

इन दोनों प्रशस्तियोंको नागकुमार पंचमी कथाकी प्रशस्तिके साथ मिलाकर पढ़नेसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि ये तीनों प्रशस्तियाँ एक ही व्यक्तिसे सम्बन्ध रखती हैं—तीनोंमें

अजितसेनका शिष्य कनकसेन, कनकसेनका शिष्य जिनसेन और जिनसेनका शिष्य मल्लिषेण बतलाया गया है; आचार्योंके अनेक विशेषण भी एक प्रशस्तिके दूसरी प्रशस्तिके साथ मिलते जुलते हैं; जैसे कि मल्लिषेणको एक प्रशस्तिमें 'वाग्देवतालंकृत' दूसरीमें 'सरस्वतीदत्तवरप्रसाद' और तीसरीमें 'वाग्देवतालक्षितचारुवक्त्र' बतलाया गया है—इसलिये नागकुमारपंचमी कथाकी तरह भैरवपद्मावतीकल्प और ज्वालनीकल्प नामके ये दोनों ग्रन्थ भी उन्हीं मल्लिषेणाचार्यके बनाये हुए हैं जो 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' कहलाते थे। परन्तु भैरवपद्मावतीकल्पकी संधियोंमें मल्लिषेणको 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' न लिखकर 'उभयभाषाकविशेखर' लिखा है; जैसा कि उसकी निम्नलिखित अन्तिम संधिसे प्रकट है :—

“इत्युभयभाषाकविशेखरश्रामील्लिषेणसूरि-
विरचिते बालीचकित्सादिनामासवर्षसंख्याधिकार-
समुच्चये द्वितीयोऽध्यायः ।

भाषाद्वयकवितायां, कवयो-

दर्पं वहन्ति तावदिह ।

नालोकयन्ति यावत्कवि-

शेखरमल्लिषेणमुनिम् ॥”

इस अवतरणके अन्तमें प्रशस्तिविषयक जो पद्य है उसमें यह बतलाया है कि, दोनों भाषाओंकी कवितामें कविजन उसी वक्त तक घमंड (दर्प)को धारण करते थे जब तक कि वे कविशेखर मल्लिषेण मुनिको नहीं देख पाते थे—अर्थात् कविशेखर मल्लिषेण मुनिके सामने उभयभाषाके कवियोंका मानखंडित हो जाता था।

इससे स्पष्ट है कि मल्लिषेण 'कविशेखर' अथवा 'उभयभाषाकविशेखर' भी कहलाते थे। परन्तु 'कविशेखर' से 'कवि-

चक्रवर्ती'की पदवी बड़ी है। इसलिये ऐसा मालूम होता है कि मल्लिषेणको पहले 'उभयभाषाकविशेखर'की पदवी प्राप्त थी और उस वक्तके बने हुए ग्रन्थोंमें उसीका प्रयोग होता था। बादमें, जबसे उन्हें 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती'की पदवी मिली तबसे इस पदवीका प्रयोग होने लगा। कविचक्रवर्तीकी यह पदवी उन्हें महापुराण और नागकुमारपंचमीकथाकी रचनासे पहले प्राप्त हो चुकी थी, इसीलिये वे इसका प्रयोग उक्त दोनों ग्रन्थोंमें कर सके हैं।

उक्त तीनों प्रशस्तियोंसे यह तो मालूम हो गया कि मल्लिषेण और जिनसेन दोनों ही अजितसेनकी गुरुपरम्परामें थे; परन्तु ये अजितसेन कौन थे, यह बात अभीतक मालूम नहीं हुई। हमारी रायमें ये अजितसेन वही जान पड़ते हैं जो कि श्रीचामुंडराय और राजा राचमल्लके गुरु थे। चामुंडराय विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके प्रारम्भमें हुए हैं—उन्होंने शक संवत् ६०० में अपना त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण नामका ग्रन्थ बनाकर समाप्त किया था—वही समय उनके गुरु अजितसेनके अस्तित्वका है। मल्लिषेणने अपना महापुराण शक संवत् ६६६ में बनाकर समाप्त किया है और यह उनकी उस प्रौढ़ावस्थाकी रचना है जब कि उन्हें 'कविचक्रवर्ती'की पदवी प्राप्त हो चुकी थी। इसलिये उनके दादा गुरु अजितसेनका समय भी शक संवत् ६०० के करीब ही बैठता है। समयकी इस एकताके खयालसे मल्लिषेणके दादा गुरु 'अजितसेन' और श्रीचामुंडराय आदि राजाओंके गुरु 'अजितसेन' दोनों एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं। नागकुमार काव्य और भैरवपद्मावतीकल्पकी प्रशस्तियोंमें दिये हुए 'भूपकिरीटविघट्टितक्रमयुगः', 'सकलनृपमुकुटघटित-

चरणयुगः' इन अजितसेनके विशेषणोंसे भी इस बातका समर्थन होता है कि ये अजितसेन प्रायः वही थे जिनके श्रीचरणोंमें चामुंडराय और राचमल्ल जैसे महाराजाओंके मुकुट नग्रीभूत होते थे। श्रीनेमिचन्द्राचार्यने, अपने गोम्पटसारमें, इनकी प्रशंसा करते हुए, इन्हें आर्यसेन गणिके गुणसमूहका धारक और भुवनगुरु प्रगट किया है*। और बाहुबलिचरित्रके कर्ताने इन्हें नन्दिसंघके अन्तर्गत देशी गणका आचार्य तथा श्रीसिंहनन्दी मुनिके चरणकमलका भ्रमर बतलाया है।† इससे मालूम होता है कि श्रीअजितसेन नन्दिसंघके अन्तर्गत देशीगणके आचार्य थे और उनके गुरु सिंहनन्दी तथा आर्यसेन नामके मुनिराज थे। उन्हींकी वंशपरम्परामें हमारे मल्लिषेण आचार्य हुए हैं। ये मल्लिषेण आचार्य बड़े भारी मन्त्रवादी थे। महापुराणकी प्रशस्तिमें इन्होंने स्वयं अपनेको 'गारुडमंत्रवादवेदी' लिखा है। भैरवपद्मावतीकल्प और ज्वालिनकल्प नामके आपके दोनों ग्रन्थ मन्त्रशास्त्रसे सम्बन्ध रखते हैं और मन्त्रयन्त्रविषयक ग्रन्थ हैं। 'बालगृहचिकित्सा' भी मन्त्रशास्त्रहीका अंग है। उसके मङ्गलाचरणमें ही अपने ग्रन्थका विशेषण 'मन्त्रशास्त्रसमुद्धृता' दिया है। इनके शिवाय और भी कुछ ग्रन्थ मन्त्रशास्त्रविषयके आपके बनाये हुए सुने जाते हैं; जैसे कि 'विद्यानुवाद' नामका संस्कृत

ग्रन्थ जिसकी श्लोक-संख्या पाँच हजार बतलाई जाती है और 'कामचंडालिनीकल्प' नामका संस्कृत ग्रन्थ जो सिर्फ २५० श्लोक परिमाण कहा जाता है। ये दोनों ग्रन्थ श्रवणबेलगोलके श्रीयुत पं० दौर्बलिजिनदास शास्त्रीजीके भंडारकी सूचीमें मल्लिषेणके नामसे दर्ज हैं। इनकी प्रशस्तियों आदिके लिये हमने शास्त्रीजीको लिखा है। उनके भानेपर पाठकोंको विशेष हालसे सूचित किया जायगा। एक ग्रन्थ 'विद्यानुशासन' नामसे अनन्तय्या इन्द्रजी, मूडविद्रीके भंडारकी सूचीमें मल्लिषेणका बनाया हुआ लिखा है और उसकी श्लोक-संख्या भी पाँच हजार दी है परन्तु, हमारे खयालसे, वह 'विद्यानुवाद'का ही नामान्तर जान पड़ता है। जैनसिद्धान्तभवन आराकी सूचीमें भी नं० ७६२ पर, 'विविधयन्त्रमन्त्र' नामसे एक संस्कृत ग्रन्थ मल्लिषेणका बनाया हुआ दिया है और उसकी श्लोक-संख्या २२०० लिखी है। मालूम नहीं इसका सही नाम क्या है, अभी तक इस ग्रन्थकी जाँच नहीं हुई। सम्भव है कि यह ग्रन्थ अधूरा हो अथवा मल्लिषेणके मन्त्रशास्त्रविषयक ग्रन्थोंपरसे संग्रह किया हुआ हो।

मल्लिषेणके संस्कृत ग्रन्थोंमें प्रेमीजीको जिन तीन ग्रन्थोंका पता लगा था उनमें एक ग्रन्थ 'सज्जनचित्तवल्लभ' है। प्रेमीजी इसे इन्हीं मल्लिषेणका बनाया हुआ लिखते हैं; परन्तु हमें अभी इस विषयमें कुछ सन्देह है। हमारे देखनेमें अभी तक इस ग्रन्थकी कोई भी ऐसी प्रति नहीं आई जिसमें ग्रन्थकर्ताको 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' अथवा 'उभयभाषाकविशेखर' लिखा हो; और न इस ग्रन्थकी कोई प्रशस्ति ही पाई गई। मालूम नहीं प्रेमीजीने किस आधार पर ऐसा लिखा है। हमें तो, ऐसी हालतमें, ग्रन्थकी रचनाशैली,

* अज्जुसेणगणिकगुणसमूहसंधारि अजियसेणगुरु ।
मुअणगुरु जस्स गुरु सो राओ गोम्पटो जयऊ ॥
—गोम्पटसार ।

† पश्चात्तोऽजितसेनपंडितमुनि देशीगणात्रेसरम्,
स्वस्याधिप्य सुखाब्धिबर्धनशशि श्रीनन्दिसंवाधिपम्,
श्रीमद्भासुरसिंहनन्दिमुनिपात्रयाम्भोजरोलम्बकम्,
चानम्य प्रवदत्सुपौदनपुरी श्रीदोर्बलेर्वृत्तकम् ॥
—बाहुबलिचरित्र ।

ग्रन्थके २४ वें पद्य और भ्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ५४ (मल्लिवेणप्रशस्ति) के अन्तिम भाग परसे यह ग्रन्थ ज्यादातर मल्लधारि मल्लिवेणका बनाया हुआ प्रतीत होता है ।

मल्लिवेणका कोई प्राकृत ग्रन्थ अभी-तक हमारे भी देखनेमें नहीं आया । परन्तु पं० दौर्बल्लिजिनदासशास्त्रीके भंडारकी सूची परसे इतना पता ज़रूर चला है कि मल्लिवेणका बनाया हुआ 'त्रिभंगी' नामका एक प्राकृत ग्रन्थ है जिसकी पद्य-संख्या ५६ है । सम्भव है कि यह ग्रन्थ इन्हीं 'बभयभाषाकविचक्रवर्ती' मल्लिवेणका बनाया हुआ हो । हमने इसकी प्रशस्ति आदिके लिये भी शास्त्रीजीको लिखा है । उसके आने पर विशेष हालसे पाठकोंको फिर सूचना दी जायगी ।

तामिल-प्रदेशोंमें जैन-धर्मावलम्बी ।

[मूल ले० भीयुत एम० ए० रामस्वामी आर्यंगर, एम० ए०, इतिहासाध्यापक, महाराजा कालेज, विजयानगर,]
(अनुवादक—कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन, आरा ।)

भीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघबाञ्छनम् ।

जीयात् त्रेलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

भारतीय सभ्यता अनेक प्रकारके तन्तुओंसे मिलकर बनी है । हिन्दुओंकी गम्भीर और निर्भीक बुद्धि, जैनकी सर्व-व्यापी मनुष्यता, बुद्धका ज्ञान-प्रकाश, अरबके पैगम्बर (मुहम्मद साहब) का विकट धार्मिक जोश और संगठन-शक्ति, ब्रिटिश्नोंकी व्यापारिक प्रतिभा और समयानुसार परिवर्तनशीलता, इन सबका भारतीय जीवन पर अनुपम प्रभाव पड़ा है और आजतक भी भारतीयोंके विचारों, कार्यों और आकांक्षाओं पर उनका अदृश्य

प्रभाव मौजूद है । नये नये राष्ट्रोंका उत्थान और पतन होता है; राजेमहाराजे विजय प्राप्त करते हैं और पददलित होते हैं; राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलनों तथा संस्थाओंकी उन्नतिके दिन आते हैं और बीत जाते हैं, धार्मिक सम्प्रदायों और विधानोंकी कुछ कालतक अनुयायियोंके हृदयोंमें विस्फूर्ति रहती है। परन्तु इस पुनर्वार-परिवर्तनकी क्रियाके अन्तर्गत कतिपय विरथायी लक्षण विद्यमान हैं, जो हमारे और हमारी सन्तानोंकी सर्वदाके लिये पैतृक-सम्पत्ति हैं । प्रस्तुत लेखमें एक ऐसी जातिके इतिहासको एकत्र करनेका प्रयत्न किया जायगा, जो अपने समयमें उच्चपद पर विराजमान थी, और इस बात पर भी विचार किया जायगा कि उस जातिने महती दक्षिण-भारतीय सभ्यताकी उन्नतिमें कितना भाग लिया है ।

यह ठीक ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता कि तामिल-प्रदेशोंमें कब जैनधर्मका प्रचार प्रारम्भ हुआ। सुदूरके दक्षिण भारतमें जैनधर्मका इतिहास लिखनेके लिये यथेष्ट सामग्रीका अभाव है । परन्तु दिगम्बरोंके दक्षिण जानेसे इस इतिहासका प्रारम्भ होता है । भ्रवणबेलगोलके शिलालेख अब प्रमाणकोटिमें परिगणित होते हैं और १६ वीं शताब्दीमें देवचन्द्रविरचित 'राजावलिकथे' में वर्णित जैन-इतिहासको अब इतिहासज्ञ विद्वान् असत्य नहीं ठहराते । उपर्युक्त दोनों सूत्रोंसे यह ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध भद्रबाहु (श्रुतकेवली) ने यह देखकर कि उज्जैनमें १२ वर्षका एक भयङ्कर दुर्भिक्ष होनेवाला है, १२००० शिष्योंके साथ दक्षिणकी ओर प्रयाण किया । मार्गमें श्रुतकेवलीको ऐसा जान पड़ा कि उनका अन्तसमय निकट है और इसलिये उन्होंने कटवप्र नामक देशके पहाड़ पर

विश्राम करनेकी आज्ञा दी। वह देश जन, धन, सुवर्ण, अन्न, गाय, भैंस, बकरी आदिसे सम्पन्न था। तब उन्होंने विशाख मुनिको उपदेश देकर अपने शिष्योंको उसे सौंप दिया और उन्हें चोल और पाण्ड्य देशोंमें उसके अधीन भेजा। राजावलिकथेमें लिखा है कि विशाख मुनि तामिल-देशोंमें गये, वहाँ पर जैन-चैत्यालयोंमें उपासना की और वहाँके निवासी जैनियोंको उपदेश दिया। इसका तात्पर्य यह है कि भद्रबाहुके मरण (अर्थात् २६७ बी० सी०) के पूर्व भी जैनी सुदूर-दक्षिणमें विद्यमान थे। यद्यपि इस बातका उल्लेख राजावलिकथेके अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता और न कोई अन्य प्रमाण ही इसके निर्णय करनेके लिये उपलब्ध होता है, परन्तु जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि प्रत्येक धार्मिक-सम्प्रदायमें विशेषतः उनके जन्मकालमें, प्रचारका भाव बहुत प्रबल होता है, तो शायद यह अनुमान अनुचित न होगा कि जैनधर्मके आदिम प्रचारक पार्श्वनाथके संघ दक्षिणकी ओर अवश्य गये होंगे। इसके अतिरिक्त जैनियोंके हृदयोंमें ऐसे एकान्त स्थानोंमें वास करनेका भाव सर्वदासे चला आया है, जहाँ वे संसारकी झंझटोंसे दूर, प्रकृतिकी गोदमें, परमानन्दकी प्राप्ति कर सकें। अतएव ऐसे स्थानोंकी खोजमें जैनी लोग अवश्य दक्षिणकी ओर निकल गये होंगे। मद्रास प्रान्तमें जो अभी जैन मन्दिरों, गुफाओं और बस्तियोंके भग्नावशेष और धुस्स पाये जाते हैं, वही उनके स्थान रहे होंगे। यह कहा जाता है कि किसी देशका साहित्य उसके निवासियोंके जीवन और व्यवहारोंका चित्र है। इसी सिद्धान्तके अनुसार तामिल-साहित्यकी ग्रन्थावलीसे हमें इस बातका पता लगेगा कि

जैनियोंने दक्षिण-भारतकी सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं पर कितना प्रभाव डाला है।

समस्त तामिल-साहित्यको हम तीन युगोंमें विभक्त कर सकते हैं—

१ संघ-काल।

२. शैव नयनार और वैष्णव अलवार-काल।

३. अर्वाचीन-काल।

इन तीनों युगोंमें रचित ग्रन्थोंसे तामिल-राज्यमें जैनियोंके जीवन और कार्यका अच्छा पता लगता है।

संघ-काल।

तामिल लेखकोंके अनुसार तीन संघ हुए। प्रथम संघ, मध्यम संघ और अन्तिम संघ। वर्तमान ऐतिहासिक अनुसंधानसे यह ज्ञात हो गया है कि किन किन समयोंके अन्तर्गत ये तीनों संघ हुए। अन्तिम संघके ४६ कवियोंमेंसे नक्किरारने संघोंका वर्णन किया है। उसके अनुसार प्रसिद्ध वैयाकरण थोलकपियर प्रथम और द्वितीय संघोंका सदस्य था। आन्तरिक और भाषासम्बन्धी प्रमाणोंके आधारपर अनुमान किया जाता है कि उक्त ब्राह्मण वैयाकरण ईसासे ३५० वर्ष पूर्व विद्यमान होगा। विद्वानोंने द्वितीय संघका काल ईसाकी दूसरी शताब्दी निश्चय किया है। अन्तिम संघके समयको आजकल इतिहासज्ञ लोग ५ वीं-६ठी शताब्दी निश्चय करते हैं। इस प्रकार सब मतभेदोंपर ध्यान रखते हुए ईसाकी ५ वीं शताब्दीके पूर्वसे लेकर ईसाके अनन्तर पाँचवीं शताब्दी तकके कालको हम संघ-काल कह सकते हैं। अब हमें इस बातपर विचार करना है कि इस कालके रचित कौन ग्रन्थ जैनियोंके जीवन और कार्यों पर प्रकाश डालते हैं।

सबसे प्रथम, थोलकपियर संघ-कालका आदि लेखक और वैयाकरण है। यदि उसके समयमें जैनी लोग कुछ भी प्रसिद्ध होते तो वह अवश्य उनका उल्लेख करता; परन्तु उसके ग्रन्थोंमें जैनियोंका कोई वर्णन नहीं है। शायद उस समय तक जैनी उस देशमें स्थायी रूपसे न बसे होंगे अथवा उनका पूरा ज्ञान उसे न होगा। उसी कालमें रचे गये काल 'पथुपाट्टु' और "एट्टुथोगाई" नामक काव्योंमें भी उनका वर्णन नहीं है, यद्यपि उपर्युक्त ग्रन्थोंमें विशेष कर ब्रामीण जीवनका वर्णन है।

दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ महात्मा 'तिरु-वल्लुवर' रचित 'कुरल' है, जिसका रचना-काल ईसाकी प्रथम शताब्दी (ए० डी०) निश्चय हो चुका है। 'कुरल' के रचयिताके धार्मिक-विचारों पर एक प्रसिद्ध सिद्धान्तका जन्म हुआ है। कति-पय विद्वानोंका मत है कि रचयिता जैन-धर्मावलम्बी था। ग्रन्थकर्त्ताने ग्रन्थारम्भमें किसी भी वैदिक-देवकी वन्दना नहीं की है बल्कि उसमें 'कमल-गामी' और 'अष्टगुणयुक्त' आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। इन दोनों उल्लेखोंसे यह पता लगता है कि ग्रन्थकर्त्ता जैनधर्मका अनु-यायी था। जैनियोंके मतसे उक्त ग्रन्थ 'एलचरियार' नामक एक जैनाचार्यकी रचना है* और तामिल-काव्य 'नील-केशी'का जैनी भाष्यकार 'समय दिवा-कर मुनि' 'कुरल' को अपना पूज्य-ग्रन्थ कहता है। यदि यह सिद्धान्त ठीक है तो इसका यही परिणाम निकलता है कि यदि पहले नहीं तो कमसे कम ईसाकी

पहली शताब्दिमें जैनी लोग सुदूर दक्षिण-में पहुँचे थे और वहाँकी देशभाषामें उन्होंने अपने धर्मका प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार ईसाके अनन्तर प्रथम दो शताब्दियोंमें तामिल प्रदेशोंमें एक नये मतका प्रचार हुआ, जो बाह्याडम्बरोंसे रहित और नैतिक सिद्धान्त होनेके कारण द्राविड़ियोंके लिए मनोमुग्धकारी हुआ। आगे चलकर इस धर्मने दक्षिण भारतपर बहुत प्रभाव डाला। देशी भाषाओंकी उन्नति करते हुए जैनियोंने दक्षिणात्योंमें आर्य विचारों और आर्य-विद्या पर अपूर्व प्रभाव डाला, जिसका परिणाम यह हुआ कि द्राविड़ी साहित्यने उत्तर भारतसे प्राप्त नवीन संदेशकी घोषणा की। मि० फ्रेज़रने अपनी "A Literary History of India" (भारतीय साहित्यिक इतिहास) नामक पुस्तकमें कहा है कि "यह जैनियों हीके प्रयत्नोंका फल था कि दक्षिणमें नये आदर्शों, नये साहित्य और नये भावोंका सञ्चार हुआ।" उस समयके द्राविड़ोंकी उपासना के विधानों पर विचार करनेसे यह अच्छी तरहसे समझमें आ जायगा कि जैनधर्मने उस देशमें जड़ कैसे जमा ली। द्राविड़ोंने अनोखी सभ्यताकी उन्नति की थी। स्वर्गीय श्रीयुत कनकसवाई पिल्लेके अनुसार, उनके धर्ममें बलिदान, भविष्य-वाणी और आनन्दोत्पादक नृत्य प्रधान अंग थे। जब ब्राह्मणोंके प्रथम दलने दक्षिणमें प्रवेश किया और मदुरा या अन्य नगरोंमें वास किया तो उन्होंने इन आचारोंका विरोध किया और अपनी वर्ण-व्यवस्था और संस्कारोंका उनमें प्रचार करना चाहा, परन्तु वहाँके निवासियोंने इसका घोर विरोध किया। उस समय वर्ण-व्यवस्था पूर्ण रूपसे परिपुष्ट और संगठित नहीं हो पाई थी। परन्तु जैनियोंकी उपासना आदिके विधान ब्राह्मणोंकी

* इस बातका उल्लेख कहाँ पर मिलता है, यह बात जरूर बतलाई जानी चाहिये थी। हमें अभी 'एल चरियार' नामके आचार्यका भी कुछ परिचय नहीं है। कहीं यह एलाचार्यका ही बिगड़ा हुआ नाम न हो।

अपेक्षा सीधे सादे ढंगके थे और उनके कतिपय सिद्धान्त सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट थे। इसी लिए द्राविड़ोंने उन्हें पसन्द किया और उनको अपने मध्यमें स्थान दिया; यहाँ तक कि अपने धार्मिक-जीवनमें उन्हें अत्यन्त आदर और विश्वासका स्थान प्रदान किया ।

कुरलके अनन्तरके युगमें प्रधानतः जैनियोंकी संरक्षतामें तामिल-साहित्य अपनी चरम सीमा तक पहुँचा । तामिल-साहित्यकी उन्नति का वह सर्वश्रेष्ठ काल था। वह जैनियोंकी भी विद्या और प्रतिभ्याका समय था, यद्यपि राजनैतिक-सामर्थ्यका समय अभी नहीं आया था। इसी समय (द्वितीय शताब्दी) चिरस्मरणीय 'शिलप्यदिकारम्' नामक काव्यकी रचना हुई। इसका कर्ता चेर-राज सँगुत्तुवनका भाई इलंगोव दिगाल था। इस ग्रन्थमें जैन-सिद्धान्तों, उपदेशों और जैनसमाजके विद्यालयों और आचारों आदिका विस्तृत वर्णन है। इससे यह निस्सन्देह सिद्ध है कि उस समय तक अनेक द्राविड़ोंने जैनधर्मको स्वीकार कर लिया था।

ईसाकी तीसरी और चौथी शताब्दियोंमें तामिल-देशमें जैनधर्मकी दशा जाननेके लिये हमारे पास काफ़ी सामग्री नहीं है। परन्तु इस बातके यथेष्ट प्रमाण प्रस्तुत हैं कि ५ वीं शताब्दिके प्रारम्भमें जैनियोंने अपने धर्मप्रचारके लिये बड़ा ही उत्साहपूर्ण कार्य किया। 'दिगम्बर-दर्शन' (दर्शनसार?) नामक एक जैन-ग्रन्थमें इस सम्बन्धका एक उपयोगी प्रमाण मिलता है। उक्त ग्रन्थमें लिखा है कि सम्वत् ५२६ विक्रमी (४५० ईसवी) में पूज्यपादके एक शिष्य वज्रनन्दी द्वारा दक्षिण मडुरामें एक द्राविड़-संघकी रचना हुई है और यह भी लिखा है कि उक्त संघ दिगम्बर जैनियोंका था जो

दक्षिणमें अपना धर्म-प्रचार करने आये थे।

यह निश्चय है कि पाण्ड्य राजाओंने उन्हें सब प्रकारसे अपनाया। लगभग इसी समय प्रसिद्ध 'नलदियार' नामक ग्रन्थकी रचना हुई और ठीक इसी समयमें ब्राह्मणों और जैनियोंमें परस्पर प्रतिस्पर्धाकी मात्रा उत्पन्न हुई।

इस प्रकार इस 'संग्र-काल' में रचित ग्रन्थोंके आधारपर निम्नलिखित विवरण तामिल-स्थित जैनियोंका मिलता है।

(१) थोलकपियरके समयमें, जो ईसाके ३५० वर्ष पूर्व विद्यमान था, कदाचित् जैनी सुदूर दक्षिण-देशोंमें न पहुँच पाये हों।

(२) जैनियोंने सुदूर-दक्षिणमें ईसाके अनन्तर प्रथम शताब्दिमें प्रवेश किया।

(३) ईसाकी दूसरी और तीसरी शताब्दिमें, जिसे तामिल-साहित्यका सर्वोत्तम-काल कहते हैं, जैनियोंने भी अनुपम उन्नति की।

(४) ईसाकी पाँचवीं और छठी शताब्दियोंमें जैनधर्म इतना उन्नत और प्रभाव-युक्त हो चुका था कि वह पाण्ड्य-राज्यका राजधर्म हो गया।

शैव-नयनार और वैष्णव-अलवार काल ।

इस कालमें वैदिक धर्मकी विशिष्ट उन्नति होनेके कारण बौद्ध और जैनधर्मोंका आसन डगमगा गया। सम्भव है कि जैनधर्मके सिद्धान्तोंका द्राविड़ी विचारोंसे मिश्रण होनेसे एक ऐसा विचित्र दुरंगा मत बन गया हो जिस पर चतुर ब्राह्मण आचार्योंने अपनी वाण-वर्षा की होगी। कट्टर जैन राजाओंके आदेशानुसार, सम्भव है, राजकर्मचारियोंने धार्मिक अत्याचार भी किये हों।

किसी मतका प्रचार और उसकी उन्नति विशेषतः शासकोंकी सहायतापर

निर्भर है। जब उनकी सहायताका द्वार बन्द हो जाता है तो अनेक पुरुष उस मतसे अपना सम्बन्ध तोड़ लेते हैं और पल्लव और पाण्ड्य-साम्राज्योंमें जैनधर्मकी भी ठीक यही दशा हुई।

इस काल (५ वीं शताब्दिके उपरान्त) के जैनियोंका वृत्तान्त सेकिल्लार नामक लेखकके ग्रन्थ पेरियपुराणमें मिलता है। उक्त पुस्तकमें शैवनयनार और नम्बी अन्दार नम्बीके जीवनका वर्णन है, जिन्होंने शैव गान और स्तोत्रोंकी रचना की है। तिरुज्ञान-संभाण्डकी जीवनी पढ़ते हुए एक उपयोगी ऐतिहासिक बात ज्ञात होती है कि उसने जैनधर्मावलम्बी कुन्पाण्ड्यको शैवमतानुयायी किया। यह बात ध्यान रखने योग्य है। क्योंकि इस घटनाके अनन्तर पाण्ड्यनृपति जैनधर्मके अनुयायी न रहे। इसके श्रुतिरिक्त जैनी लोगोंके प्रति ऐसी निष्ठुरता और निर्दयताका व्यवहार किया गया, जैसा दक्षिण-भारतके इतिहासमें और कभी नहीं हुआ। संभाण्डके घृणाजनक भजनोंसे, जिनके प्रत्येक दसवें पद्यमें जैनधर्मकी भर्त्सना थी, यह स्पष्ट है कि वैमनस्यकी मात्रा कितनी बढ़ी हुई थी।

अतएव कुन्पाण्ड्यका समय ऐतिहासिक दृष्टिसे ध्यान रखने योग्य है, क्योंकि उसी समयसे दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी अवनति प्रारंभ होती है। मि० टेलरके अनुसार कुन्पाण्ड्यका समय १३२० ईसवीके लगभग है, परन्तु डा० काल्डवेल १२६२ ई० बताते हैं। परन्तु शिलालेखोंसे इस प्रश्नका निश्चय हो गया है। 'स्वर्गीय श्रीयुत वैकट्याने यह अनुसन्धान किया था कि सन् ६४२ ई० में पल्लवराज नरसिंह वर्मा प्रथमने 'वातापी' का विनाश किया। इसके आधार पर तिरुज्ञान-संभाण्डका समय ७वीं शताब्दिके मध्यमें

निश्चित किया जा सकता है। क्योंकि संभाण्ड एक दूसरे शैवाचार्य 'तिरुनडुकरसार' अथवा लोकप्रसिद्ध अय्यारका समकालीन था, परन्तु संभाण्ड 'अय्यार' से कुछ छोटा था। और अय्यारने नरसिंह वर्माके पुत्रको जैनीसे शैव बनाया। स्वयं अय्यार पहले जैनधर्मकी शरणमें आया था और उसने अपने जीवनका पूर्व भाग प्रसिद्ध जैन-विद्याके केन्द्र तिरुप्पदिरिप्युलियारके विहारोंमें व्यतीत किया। इस प्रकार प्रसिद्ध ब्राह्मण आचार्य संभाण्ड और अय्यारके प्रयत्नोंसे, जिन्होंने कुछ समय अनन्तर अपने स्वामी तिलकवथिको प्रसन्न करनेके हेतु शैव-मतकी दीक्षा ले ली थी, पाण्ड्य और पल्लव राज्योंमें जैनधर्मकी उन्नतिको बड़ा धक्का पहुँचा। इस धार्मिक संग्राममें शैवोंको वैष्णव अलवारोंसे विशेष कर 'तिरुमलिसैप्पिरन' और 'तिरुमंगई' अलवारसे बहुत सहायता मिली, जिनके भजनों और गीतोंमें जैन-मत पर घोर कटाक्ष हैं। इस प्रकार तामिल-देशोंमें नम्मलवारके समयमें (१० वीं शताब्दि ए० डी०) जैनधर्मका अस्तित्व सङ्कटमय रहा।

३-अर्वाचीन-काल ।

नम्मलवारके अनन्तर हिन्दूधर्मके उन्नायक प्रसिद्ध आचार्योंका समय है। सबसे प्रथम शंकराचार्य हुए, जिनका उत्तरकी ओर ध्यान गया। इससे यह प्रकट है कि दक्षिण-भारतमें उनके समय तक जैनधर्मकी पूर्ण अवनति हो चुकी थी। जब उन्हें कष्ट मिला तो वे प्रसिद्ध जैन-स्थानों श्रवणवेलगोल (मैसूर) टिरिडवानम् (दक्षिण अरकाट) में जा बसे। कुछने गंग राजाओंकी शरण ली जिन्होंने उनका पालन किया। यद्यपि अब जैनियोंका राजनैतिक प्रभाव नहीं रहा, और यद्यपि उन्हें

सब ओरसे पल्लव, पाण्ड्य और चोल राज्यवाले तंग करते थे, तथापि विद्यामें उनकी प्रभुता न्यून नहीं हुई। 'चिन्ता-मणि' नामक प्रसिद्ध महाकाव्यकी रचना तिरुलकतेवर द्वारा नवीं शताब्दीमें हुई। प्रसिद्ध तामिल-वैयाकरण पविनन्दि जैन-ने अपने 'नन्नूल' की रचना १२२५ ई० में की। 'जैनगजट' में जैनियोंकी साहित्य-सेवाका विस्तृत विवरण छप चुका है। इन ग्रन्थोंके अध्ययनसे यह पता लगता है कि जैनी लोग विशेषतः मैलापुर, निदु-म्बई (?) थिपंगुदी (तिरुवलूरके निकट एक ग्राम) और टिण्डिवानम्में बहुत संख्यामें निवास करते थे।

अन्तिम आचार्य श्रीमाधवाचार्यके जीवनकालमें मुसलमानोंने दक्षिण पर विजय प्राप्त की जिसका परिणाम यह हुआ कि दक्षिणमें साहित्यिक, मानसिक और धार्मिक उन्नतिको बड़ा धक्का पहुँचा और मूर्तिविध्वंसकोंके अत्याचारोंमें अन्य मतावलम्बियोंके साथ जैनियोंको भी कष्ट मिला। उस समय जैनियोंकी दशा वर्णन करते हुए श्रीयुत वार्थ सा० लिखते हैं कि "मुसल्मान-साम्राज्य तक जैनमतका कुछ कुछ प्रचार रहा। मुसलिम साम्राज्यका प्रभाव यह पड़ा कि हिन्दूधर्मका प्रचार रुक गया, और यद्यपि उसके कारण समस्त राष्ट्रकी धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक अवस्था अस्तव्यस्त हो गई, तथापि साधारण लघु संस्थाओं, समाजों और मतोंकी रक्षा हुई।"

दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी उन्नति और अवनतिके इस साधारण वर्णनका यह उद्देश नहीं कि सुदूर दक्षिण-भारतमें प्रसिद्ध जैनधर्मका इतिहास वर्णन हो। ऐसे इतिहास लिखनेके लिये यथेष्ट सामग्रीका अभाव है। उत्तरकी भाँति

दक्षिण-भारतके भी साहित्यमें राजनैतिक इतिहासका बहुत कम उल्लेख है।

हमें जो कुछ ज्ञान उस समयके जैन-इतिहास का है वह अधिकतर पुरातत्त्व-वेत्ताओं और यात्रियोंके लेखोंसे प्राप्त हुआ है, जो प्रायः यूरोपियन हैं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणोंके ग्रन्थोंसे भी जैन-इतिहासका कुछ पता लगता है, परन्तु वे सम्भवतः जैनियोंका वर्णन पक्षपातके साथ करते हैं।

इस लेखका यह उद्देश नहीं कि जैन-समाजके आचार-विचारों और प्रथाओंका वर्णन किया जाय और न एक लेखमें जैन-गृह-निर्माण-कलाका ही वर्णन हो सकता है। परन्तु इस लेखमें इस प्रश्न पर विचार करनेका प्रयत्न किया गया है कि जैनधर्मके चिर-सम्पर्कसे हिन्दू-समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है।

जैनी लोग बड़े विद्वान् और पुस्तकोंके लेखक हो गये हैं। वे साहित्य और कलासे प्रेम रखते थे। जैनियोंकी तामिलकी सेवा तामिलियोंके लिये अमूल्य है। तामिल-भाषामें संस्कृतके शब्दोंका उपयोग पहलेपहल सबसे अधिक जैनियोंही ने किया। उन्होंने संस्कृत शब्दोंको तामिल-भाषामें उच्चारणकी सुगमताके हेतु यथेष्ट रूपसे बदल डाला। कनड़ी-साहित्यकी उन्नतिमें भी जैनियोंका उत्तम भाग है। वास्तवमें वे ही इसके जन्मदाता थे। 'बारहवीं शताब्दिके मध्य तक उसमें जैनियोंहीकी सम्पत्ति थी और उसके अनन्तर बहुत समय तक जैनियोंहीकी उसमें प्रधानता रही। सर्व प्राचीन और बहुतसे प्रसिद्ध कनड़ी-ग्रन्थ जैनियोंहीके रचे हैं।" (लुइस राइस)। श्रीमान् पादरी एफ० किटेल सा० कहते हैं कि 'जैनियोंने केवल धार्मिक-भावनाओंसे नहीं, किन्तु साहित्य-प्रेमके विचारसे भी

कनड़ी भाषाकी बहुत सेवाकी है और उक्त भाषामें अनेक संस्कृत ग्रन्थोंका अनुवाद किया है ।”

अहिंसाके उच्च आदर्शका वैदिक-संस्कारोंपर प्रभाव पड़ा है । जैन-उप-देशोंके कारण ब्राह्मणोंने जीव-बलिप्रदान बिल्कुल बन्द कर दिया और यज्ञोंमें जीवित पशुओंके स्थानमें आटेकी बनी मूर्तियाँ काममें लाई जाने लगीं ।

दक्षिण-भारतमें मूर्तिपूजा और देव-मन्दिर-निर्माणकी प्रचुरताका भी कारण जैनधर्मका प्रभाव है । शैव-मन्दिरोंमें महात्माओंकी पूजाका विधान जैनियों-हीका अनुकरण है । द्राविड़ोंकी नैतिक एवं मानसिक उन्नतिका मुख्य कारण पाठशालाओंका स्थापन था, जिनका उद्देश जैनविद्यालयों और प्रचारक-मण्डलोंका रोकना था (?) ।

मद्रास प्रान्तमें जैन-समाजकी वर्तमान दशापर भी एक दो शब्द कहना उचित होगा । गत मनुष्य-गणनाके अनुसार सब मिलाकर २७००० जैनी इस प्रान्तमें थे, जिनमेंसे दक्षिण कनारा, उत्तर और दक्षिण-अरकाटके जिलोंमें २३००० हैं । इनमेंसे अधिकतर इधर उधर फैले हुए हैं और गरीब किसान और अशिक्षित हैं । उन्हें अपने पूर्वजोंके अनुपम इतिहासका तनिक भी बोध नहीं है । उनके उत्तर-भारतवाले भाई जो आदिम जैनधर्मके अवशिष्ट-चिह्न हैं, उनसे अपेक्षाकृत अच्छा जीवन व्यतीत करते हैं । उनमेंसे अधिकांश धनवान्, व्यापारी और महाजन हैं । दक्षिण-भारतमें जैनियोंकी विनष्ट-प्रतिमाएँ, परित्यक्त-गुफाएँ और भग्न-मन्दिर इस बातके स्मारक हैं कि प्राचीन-कालमें जैन-समाजका वहाँ कितना विशाल-विस्तार था और किस प्रकार ब्राह्मणोंकी धार्मिक-स्पर्धाने उनको मृतप्राय कर दिया । जैन-समाज

विस्मृतिके पटलमें लुप्त हो गया; उसके सिद्धान्तोंपर गहरी चोट लगी; परन्तु दक्षिणमें जैनधर्म और वैदिक-धर्मके मध्य जो कराल-संग्राम और रक्तपात हुआ, वह मदुरामें मीनाक्षी-मन्दिरके स्वर्णकुमुद-सरोवरके मण्डपकी दीवारों पर अंकित चित्रोंके देखनेसे अब भी स्मरण हो आता है ।

इन चित्रोंमें जैनियोंके विकराल-शत्रु तिरुञ्जान संभाण्डके द्वारा जैनियोंके प्रति अत्याचारों और रोमाञ्चकारी यातनाओंका चित्रण है । इस कहणाकारण्डका यहीं अन्त नहीं होता है । मञ्जुरा मन्दिरके बारह वार्षिक त्योहारोंमेंसे पाँचमें यह हृदय-विदारक दृश्य प्रति वर्ष दिखलाया जाता है । यह सोचकर शोक होता है कि एकान्त और जनशून्य स्थानोंमें कतिपय जैन-महात्माओं और जैनधर्मकी वेदीपर बलिदान हुए महापुरुषोंकी मूर्तियाँ और जनश्रुतियोंके अतिरिक्त, दक्षिण-भारतमें अब जैनमतावलम्बियोंके उच्च-उद्देशों, सर्वाङ्गव्यापी उत्साह और राजनैतिक-प्रभावके प्रमाणस्वरूप कोई अन्य चिह्न विद्यमान नहीं है ।*

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला ।

इस समय ग्रन्थमालाका काम कुछ विशेष प्रयत्नसे हो रहा है । मूलाचार आचार्य वसुनन्दिकी संस्कृत टीका-सहित, षष्ठाहुड़, श्रीश्रुतसागर सूरिकृत संस्कृत टीकासहित, भावसंग्रह संस्कृत और प्राकृत, नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीकासहित । इनके सिवाय न्यायकुमुदचन्द्रोदय और न्यायविनिश्चयालंकार इन दो महान् ग्रन्थोंकी भी प्रेस-कापियाँ हो रही हैं । अब इस कार्यमें धर्मात्माओंकी विशेष सहायता करनी चाहिए ।

* नोट—अनुवादकने अँगरेजी जैनगजटके जिस लेख परसे यह अनुवाद किया है उसमें ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा ग्रन्थों आदिके नामोंको ऐसे बुरे ढंगसे छपा है कि उनमें भ्रम होना सम्भव है । हम साधन और समयभावसे उनकी जाँच नहीं कर सके ।—सम्पादक ।

जैनधर्मकी अनेकान्तात्मक प्रभुता ।

(ले०—सरस्वतीसहोदर, अमरावती ।)

जैनधर्मके पौराणिक साहित्य (प्रथमानुयोग) का सूक्ष्मतया निरीक्षण और जैनधर्मके स्याद्वादकी दुर्भेद्य सार्वभौमिकता पर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि यह प्राचीन समयमें आजकलकी तरह इने गिने वैश्य समुदायके लिये रजिस्टर्ड नहीं था और न किसी वर्ण विशेषमें मर्यादाकी जंजीरोंसे ही जकड़ा हुआ था; बल्कि प्राचीन समयके प्रायः सर्व देशोंकी जनतामें जैनधर्मके सार्वभौमिक सिद्धान्त व्यापक रूपमें फैल चुके थे। मूर्ख व्यक्तिसे लेकर बड़े बड़े दिग्गज विद्वानोंतकके हृदयमें और रंकसे लेकर चक्रवर्ती सम्राट्कके मानसमें जैनधर्मने अपना स्थान जमा लिया था। इतना ही नहीं, किन्तु चक्री, अर्द्धचक्री, महामंडलेश्वर, मंडलेश्वरादिक, प्रजापालक और उनके राज्यके प्रायः सम्पूर्ण प्रजाजन (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्नेच्छ आदि सभी प्रकारके उच्च, नीच मनुष्य) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार अपनी अपनी परिस्थितिके अनुरूप जैनधर्मको धारण कर (मोक्षमार्ग स्वीकार कर) अपना कल्याण किया करते थे।

पौराणिक साहित्यमें ऐसी अनेक कथाएँ वर्णित हैं जिनसे जाना जाता है कि सप्त व्यसनोंका सेवन करनेवाले अथवा उनमेंसे किसी एक व्यसनमें आसक्त बहुतसे जुआरी (द्यूतक्रीडक), मांसभक्षक, मद्यपायी, वेश्याभक्त, शिकारी, चोर और परस्त्रीलंपट अपने अपने राग परिणामोंको मन्द कर सम्यग्दृष्टि हो गये और अन्तमें उन्हें स्वर्गादिककी प्राप्ति हुई।

इसी प्रकार उक्त प्रथमानुयोगके ग्रन्थोंमें उन सत्पुरुषोंकी कथाएँ देकर उन्हें जैनधर्मानुयायी बतलाया गया है जो हिन्दूधर्मके पुराण ग्रन्थोंके अनुसार ईश्वरके अवतार माने जाते हैं और जिनकी वर्तमान हिन्दूधर्मानुयायी पूजा, भक्ति तथा उपासना करते हैं। उदाहरणके लिये श्रीरामचन्द्रजी तथा श्रीकृष्णजी आदिको लीजिये। जैनशास्त्रोंमें, अनेक कथाओं द्वारा, इन महानुभावोंको और इनके मित्र तथा प्रतिस्पर्धी हनुमान, पाण्डव, रावण, कंस और जरासन्धादिकको उनके कतिपय परिवारों सहित जैनधर्मानुयायी प्रकट किया गया है। इस विषयमें कुछ ऐतिहासिक विद्वान् तथा अन्य विचारक जन भले ही जैनकथाकारों पर कुछ दोषारोपण करें—उनकी रचनाओंमें कतिपय ऐसे दोष दिखलाएँ जिनसे अजैन कथाकार भी मुक्त नहीं हैं, अथवा यह कहें कि उनका लिखना अक्षर अक्षर रूपसे सत्य नहीं है, परन्तु इसमें संदेह नहीं, कि जैनधर्मकी (मोक्षमार्गकी) अनेकान्तात्मक प्रभुताकी दृष्टिसे विचार करने पर जैन कथाकारोंका उक्त व्यक्तियोंको जैनधर्मानुयायी लिखना निहंतुक नहीं है। वे अनेकान्तात्मक वस्तु-स्वभावी जैनधर्मको विश्वव्यापी और सार्वभौमिक समझते थे और उनका यह समझना बहुत कुछ ठीक जान पड़ता है।

हमारे खयालमें श्रीरामचन्द्र तथा श्रीकृष्णादिक महान् व्यक्तियोंको जैनधर्मानुयायी माननेमें शंका करना जैनधर्मको संकुचित और अनुदार बनाना है जो कि उसकी प्रकृतिके विरुद्ध है। उन महान् व्यक्तियोंके सम्यग्दृष्टि होनेमें संदेह करना मानो उन्हें अज्ञानी समझना है। सारा भारतवर्ष चिरकालसे जिनके नामका प्रातःस्मरण अभीतक करता आ रहा है

उनको अज्ञानी या मिथ्यावादी समझना बड़ी भूल है। उक्त महान् व्यक्तियोंकी नस नसमें अनेकान्तात्मक वस्तुस्वभावी धर्म भरा हुआ था। प्राचीन समयमें वीर व्यक्ति ही जैनधर्मका सम्पूर्णतया पालन करते थे। श्रीकृष्णके नामसे जो गीता प्रसिद्ध है उसमें जैनधर्मके सिद्धान्तका प्रतिपादक निम्नलिखित पद्य ध्यानसे पढ़े जाने योग्य है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न कस्य सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

इसमें श्रीकृष्णजी अर्जुनको बतलाते हैं कि, परमेश्वर जगत्के कर्तृत्व और कर्मोंको उत्पन्न नहीं करता और न कर्म-फलकी योजना करता है; यह सब कुछ स्वभावसे (अनेकान्तात्मक वस्तुस्वभावसे) हो रहा है। परमेश्वर न किसीका पाप अपने ऊपर लेता है और न किसीका पुण्य। अज्ञानके द्वारा ज्ञान पर परदा पड़ा हुआ है और उसके कारण संसारी जीव मोहित हो रहे हैं—तरह तरहकी कल्पनाएँ कर रहे हैं।

इन जैनसिद्धान्तानुकूल भावों पर विचार करनेसे, जो कि अजैन ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं, श्रीकृष्णजीको जैनकथा-ग्रन्थोंके कथनानुसार, जैन धर्मानुयायी माननेमें कुछ सङ्कोच नहीं होता।

वास्तवमें आजकल जैनधर्मके अनेक तत्त्व संसारके सभी मत और सम्प्रदायोंमें इसी भाँति सूक्ष्म रीतिसे छिपे हुए हैं। उनको अनेकान्तरूपी दैदीप्यमान प्रकाशके सहारे खोजकर प्रकट करना जैनधर्मकी उन्नति और उसके प्रचारका एक मार्ग है।

जैनधर्मके धुरन्धर आचार्य श्रीमद्

भट्टाकलंकदेवने अपने साहित्यमें जैनधर्मकी अनेकान्तात्मक प्रभुताको बड़े ही स्पष्ट रूपसे झलकाया है। आप नामादि विशेषको प्रायः कुछ भी प्रधानता नहीं देते थे। आपके प्रतिपाद्य साहित्यमें सर्वत्र परीक्षाप्रधानताकी ध्वनि गूँजती है। आपके जीवनचरित्रसे विदित होता है कि आपका अध्ययन बौद्धोंके विद्यापीठमें भी हुआ था। आप अपने समयमें प्रचलित अनेक दर्शनोंके पारङ्गत विद्वान् थे। आपको जैनदर्शनके अतिरिक्त अन्य दर्शनसाहित्यके पढ़नेमें तथा सत्यांशको खोजनेमें मिथ्यात्वका भय नहीं रहता था। यही सबब है कि आप इतने बड़े दिग्गज विद्वान् हो सके। आपकी परीक्षाप्रधानता और युक्तिपूर्ण अनेकान्त प्रभुता निम्नलिखित एक ही श्लोकसे प्रकट होती है—

यो विश्वं वेद वेद्यं जननजल
निधेर्भाङ्गिनः पारदश्चा ।
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं
निष्कलङ्कं यदीयम् ॥
तं वन्दे साधुवन्द्यं सकलगुणनिधिं
ध्वस्तदोषाद्विषन्तम् ।
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदल-
निलयं केशवं वा शिवं वा ॥

आपको ऐसे ही वचन मान्य थे जो परस्पर अविरोध, अनुपम और निर्दोष हों, चाहे वे किसी मतके हों। इसी प्रकार आपको वर्द्धमान नामसे ही विशेष अनुराग न था और न बुद्ध, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदिक नामोंसे कोई घृणा थी; किन्तु जो सम्पूर्ण विश्वको देखने जानने-वाला, दोषों से रहित, सकल गुणोंका आगार और साधुओं करके वन्दनीय हो उसीको आप परमदेव मानते थे। फिर

वह चाहे बुद्ध हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो या महेश ही क्यों न हो ।

ऊपरके इस कथनसे हमारा अभि-
प्रायः यह सूचित करनेका है कि प्राचीन
समयमें जैनधर्म जातिवाचक या सम्प्र-
दाय-विशेष नहीं था किन्तु अन्यान्य मतों
तथा सिद्धान्तोंकी पारस्परिक विरुद्धता
मिटकर उन सबको एकताके सूत्रमें सञ्च-
लित करनेवाला और प्राकृतिक सत्यका
प्रतिपादक एक वैज्ञानिक मार्ग था, जिसे
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ आदि
प्रत्येक उच्च-नीच वर्ण और प्रत्येक धर्म-
पन्थके मनुष्यमात्रको अपनानेका समान
अधिकार था । उस समयके विद्वानोंमें
प्रायः अपने अपने मतका विशेष दुराग्रह
नहीं था । वे सत्य सिद्धान्त और सत्य
मार्गको विवेककी कसौटी पर परखकर
शीघ्र ही स्वीकार कर लेते थे ।

परन्तु खेदकी बात है कि जैसे धर्म-
का अनेकान्तात्मक प्रभुत्व भारतवर्षमें
कम होता गया वैसे ही मत, पंथ, वर्ण
और जातिभेद बढ़ता गया और परस्पर
उच्च-नीच, निंदा-स्तुति, तथा ईर्ष्याके भाव
फैल गये जिन सबके कारण पक्षपात,
दुराग्रह, मिथ्याभिमान और अनैक्यकी
वृद्धि हो गई । यहाँ तक कि, एक ही धर्म-
में अनेक सम्प्रदाय और पन्थ उत्पन्न हो
गये और प्रत्येक पन्थवाले अपने अपनेको
सत्यवादी और दूसरोंको मिथ्यावादी
समझने लगे । परस्पर खूब मार काट
और भगड़े होने लगे, एकको दूसरेका
उत्कर्ष अच्छा नहीं मालूम होता था, इस-
लिये दूसरेका उत्कर्ष घटानेके उपाय सोचे
जाने लगे । अन्तमें ईर्ष्या, मत्सर और द्वेषका
प्रभाव धार्मिक भावोंके बाहर सामाजिक
और राजनैतिक क्षेत्रमें और भी तेजीसे
फैल गया । एक एक वर्णमें अनेक जातियाँ
निर्मित हुई, परस्पर खान पान, बेटी

व्यवहार करना अप्रशस्त मालूम होने लगा,
बड़े बड़े राजाओंमें अपार विद्वेष फैला
और परस्पर युद्ध होकर उनकी शक्तियाँ
निर्बल होने लगीं । जिनकी शक्ति अत्यन्त
निर्बल हो चुकी वे दूसरोंका उत्कर्ष देखने-
में राजी न हुए, किन्तु विदेशियोंको
निमंत्रण देकर उनकी सहायतासे अपनी
तथा समस्त भारतवर्षकी स्वतंत्रता पर
आघात पहुँचानेमें उन्हें खुशी हुई, जिसका
फल हम आज देख रहे हैं । विशेष आश्चर्य
और अत्यन्त खेदकी बात यह है कि जैन-
धर्मानुयायियोंने भी अनेकान्तकी सार्व-
भौमिकतासे अपरिचित होकर अनैक्य
बढ़ानेमें ही उसका उपयोग किया है ।
उसीका फल यह है कि वर्तमानमें दिगम्बर,
श्वेताम्बर, स्थानकवासी और फिर उसी-
के अन्तर्गत अनेक संघ और पन्थ देख
पड़ते हैं । अपने धर्मरूपी शरीरके एक
एक अंगको ही सत्य मान और बाकी
अंगोंको मिथ्या जान अथवा शरीरके एक
अंगको ही उपादेय और दूसरे अंगोंको
हेय जानकर एकांती बन अनेकान्तवादिता-
का जो शोर अभी तक मचाया गया है वह
कहाँ तक प्रशस्त है, इसपर सभी जैनी
कहलानेवाली जनताको विचार करना
चाहिये । मनुष्य शरीरके एक छोटेसे
छोटे अंगद्वारा भी, जो कभी कभी व्यर्थ
जँचने लगता है, कोई न कोई कार्य
शरीरकी रक्षा और पोषणका अवश्य
हुआ करता है । पैरमें ज़रासा काँटा लग
जाने पर समस्त शरीरमें एक प्रकारकी
हलचल मच जाती है और काँटा लगनेके
स्थानमें शरीरका दूसरा अंग उसके सहा-
यतार्थ पहुँचता है और यह कार्य हाथके
द्वारा मस्तिष्क कराता है । यदि मस्तिष्क
अपने पैरको हेय जान या मिथ्या मानकर
हाथों द्वारा उसीपर शस्त्र प्रहार करने
लगे तो उसका दुःख केवल पैर हीको

नहीं होता बल्कि समस्त शरीर वेदनाके कारण अस्वस्थ रहता है। यदि ज्यादा प्रहार करने पर पैरको सर्वथा ही शरीरसे अलग कर दिया जाता है तो कुछ समयमें समस्त शरीर चैतन्यरहित हो जाता है। इसी प्रकार धर्मरूपी शरीरका मस्तिष्क जैन-धर्म है और उसकी वर्तमान शाखा प्रशाखायें मस्तिष्कके ही विभाग हैं। बाकी संसारके समस्त भिन्न भिन्न धर्म उस शरीरके अन्यान्य हस्त पादादिक अंग और अवयव हैं। यही अनेकान्तका वास्तविक रहस्य है। परन्तु आजकल एक तो जैन समाजमें अनेकान्तको समझनेवाले ही कम हैं और जो थोड़े बहुत विद्वान् अनेकान्तको जाननेवाले हैं भी उनकी प्रायः यही धारणा है कि अनेकान्त किसीके खंडन करनेका ब्रह्मास्त्र है; उसका उपयोग सिर्फ अन्य धर्मोंका खंडन करनेके लिये और वस्तु स्वभावकी असलियत परखने तथा उसके अनुभव करनेमें कुछ गड़बड़ी मचानेके लिये ही है। ऐसा मानना बड़ी भूल है। इसी भूलसे समाजका अधःपतन हो गया और होता जा रहा है।

पूज्य अमृतचन्द्राचार्यजीने अपने "पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय" ग्रन्थमें सत्य लिखा है कि—

“अत्यन्त निश्चित धारं

दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।

खण्डयति धार्यमाणं

मूर्धानं क्षतिरिति दुर्विदग्धानाम्” ॥

“श्रीजिनेन्द्र भगवान के अति तीक्ष्ण धारवाले और कठिनतासे सिद्ध होनेवाले नयचक्र को अज्ञानी पुरुष धारण करे तो वह उनके मस्तकको शीघ्र ही खण्डन कर देता है।” अर्थात् अनेकांतरूपी नयचक्रको समझना बड़ा कठिन है; जो कोई

बिना समझे इसमें प्रवेश करते हैं वे अपने ही हाथोंसे धर्मरूपी शरीरका मस्तक शरीरसे अलग कर देते हैं। फिर शरीरके दूसरे अंगावयवोंको नष्ट करनेकी तो बात ही अलग है। मनुष्य मात्रको अपने हृदयमें यह गाँठ बाँध लेना चाहिए कि, अनेकांत (स्याद्वाद) पंथका उद्देश्य विरोध और भेदभाव बढ़ानेका नहीं, बल्कि विरोध और भेदभाव दूर करनेका है। इसी लिये उक्त आचार्य प्रवरने अनेकांतको परमागम का जीव—सत्य सिद्धान्तकी जान-सकल नयोंसे विलसित तथा विरोधका दूर करनेवाला माना है और अनेकांतकी इस सार्वभौमिक प्रभुताके उत्कृष्ट महत्वको समझकर उसे नमस्कार किया है। यथा—

“परमागमस्य जीवं निषिद्ध

जात्यन्धसिन्धुर विधानम् ।

सकल नय विलसितानां

विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

श्रीविनयविजयजी उपाध्यायने 'नय-कर्णिका' नामकी एक अत्यन्त सुबोध, सरल और लघु पुस्तक, स्याद्वादमें प्रवेश करनेवाले व्यक्तियोंके लिये, निर्मित की है, जिसकी श्लोक-संख्या २३ है। इसे गुजराती अनुवाद, प्रस्तावना, उपोद्घात, कर्ताके जीवनचरित्र और स्फुट विवेचन सहित परिडित लालनने प्रसिद्ध किया है। उक्त पुस्तकमें उपाध्यायजीने वर्द्धमान स्वामीकी स्तुतिके रूपमें सप्तनयोंका बहुत सुन्दरतापूर्वक वर्णन किया है। उपाध्यायजी कहते हैं—

“वर्द्धमानं स्तुमः सर्वनयनवर्णवागमम् ।

संक्षेपतस्त दुन्नीतनयमेदानुवादतः ॥१॥”

“श्रीवर्द्धमान स्वामीका आगम सब नयरूपी नदियोंके लिये समुद्रके समान है; उनके द्वारा प्ररूपित नयभेदोंका संक्षेपमें

अनुवाद कर हम उनकी स्तुति करते हैं । अर्थात् जिस प्रकार शब्दसमूह असंख्य है और वैयाकरणोंने व्याकरणमें शब्द-समूहके संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया-पद, क्रिया विशेषण, अव्यय आदि आवश्यक भेद नियोजित कर अभ्यासियों-का मार्ग सुगम बना दिया है, उसी प्रकार नय समूहकी संख्या भी गणनातीत होने-से कुशाग्र-बुद्धि जैनाचार्योंने दीर्घ मननके बाद नयोंके महान् समूहको सिर्फ सात ही नयोंमें विभक्त कर दिया । इन सात ही नयोंमें यावन्मात्र नय भेदोंका आविर्भूत हो, पेसा पृथक्करण-किया गया है । पेसा कोई नय बाकी नहीं रहा जिसका समावेश इन सात नयोंके भीतर न हुआ हो । जिस प्रकार शब्दसमूहके किसी शब्दको संज्ञा आदिक उपनाम देने पर व्याकरणके वर्गीकरणोंमेंसे एक अंगका ज्ञान होता है, उसी प्रकार असंख्य विचारोंमेंसे किसी विचारका सात नयोंमेंसे एकाध नयमें समावेश होनेपर उस नय विशेषका ज्ञान होता है । शब्द-समूहके व्याकरणोक्त सम्पूर्ण आठ अंगोंका ज्ञान होने पर जिस प्रकार उन अंगोंका यथावत् उपयोग करनेमें कठिनता नहीं होती, उसी प्रकार विचारोद्गार किस नयसे प्रकट किये गये, इसका भली भाँति ज्ञान प्राप्त करनेमें स्याद्वादरूपी विचार व्याकरणके जाननेसे कठिनता नहीं रहती । नयशास्त्र (स्याद्वाद-अनेकांतवाद) विचारोंका अन्तर्गत रहस्य समझनेके लिये एक प्रकारका व्याकरण है । एक ही वस्तुका भिन्न भिन्न अपेक्षा (दृष्टि) से भिन्न भिन्न आभास होता है; क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मविशिष्ट होती है । उसके अनन्त धर्मोंमेंसे (गुणोंमेंसे) किसी खास गुणकी मुख्यता लेकर कथन करना नय (अपेक्षा-विवक्षा-दृष्टि-हेतु-Point) कहलाता है । सम्पूर्ण नयों के भिन्न भिन्न

कथनको एकत्र करनेसे उस वस्तुका परिपूर्ण ज्ञान होता है । जगत्के समस्त धर्म, जगत्की सब प्रकारकी प्रकृतियाँ—चाहे वे पारमार्थिक हों, राजनैतिक हों, सामाजिक हों या व्यक्तिगत हों—जुड़ी जुड़ी अपेक्षाओंके अवलम्बित मार्ग हैं । सम्पूर्ण अपेक्षाओंको जाननेवाला सर्वज्ञ कहलाता है और सामान्य बुद्धिवाले जन जितनी जितनी अपेक्षाओंको (नयोंको) समझें उतने ही उतने अंशमें, विशेषज्ञ कहलाते हैं । इसी अपेक्षा ज्ञानकी प्रशंसा करते समय आर्यशास्त्र कहते हैं “ज्ञानमेव परं बलम्” “ज्ञान ही परम बल है” । पश्चिमी तत्त्वज्ञ लार्ड बेकन भी कहता है—“Knowledge is Power. “ज्ञान ही परम वीर्य-बल-सामर्थ्य-पराक्रम है।” यही समस्त भूमण्डलके तत्त्वज्ञोंके कथनका सार है । यह ज्ञान वही नयज्ञान, न्यायज्ञान अथवा अपेक्षाज्ञान है । हम ऊपर लिख चुके हैं कि जिस प्रकार शब्द समूह असंख्य है उसी प्रकार नय समूह भी असंख्य है । साथ ही यह भी लिख चुके हैं कि व्याकरण के सदृश उक्त असंख्य नय समूह, सामान्य रूपसे, भिन्न भिन्न सात नयोंमें गर्भित किया गया है और जगत्के समस्त विचार और प्रवृत्तियाँ भिन्न भिन्न नयोंके अवलम्बित मार्ग हैं । नय समूहके समस्त अंशोंको सम्पूर्ण जाननेवाला सर्वज्ञ कहलाता है और नय समूहके जितने जितने अंशको जो जाने वह उतने ही अंशमें विशेषज्ञ कहलाता है ।

तीर्थंकर प्रभृति असंख्य नय भेदोंके समूहको सम्पूर्णतया जाननेवाले सर्वज्ञ थे । इसलिये उनके आगमरूपी महासागरमें समस्त विशेषज्ञोंकी नय रूपी भिन्न भिन्न सरिताएँ अवश्यमेव आकर मिल जाती हैं ।

अन्तमें उक्त उपाध्यायजी ग्रन्थका उपसंहार करते हुए लिखते हैं—

“सर्वे नया अपि विरोध भृतो मिथस्ते,
सम्भूय साधुसमयं भगवन् भजन्ते ।
भूपा इव प्रतिभटा भुवि सार्वभौम-
पादाम्बुजं प्रधनयुक्ति पराजिता द्राक् ॥”

“हे भगवन् ! ये सब नय परस्पर विरोधी होने पर भी एकत्र होकर आपके परमागमकी इस प्रकार सेवा करते हैं, जिस प्रकार कि राजागण परस्पर विरोधी होते हुए भी पराजित होकर सार्वभौम सम्राट् (चक्रवर्ती) की चरणसेवामें शीघ्र ही प्रवृत्त हो जाते हैं ।”

पाठकगण, सोचिए, जैनधर्मकी अनेकान्तात्मक प्रभुताका उपाध्यायजीने कितना सुन्दरतापूर्वक स्पष्ट उल्लेख किया है । प्राचीन कालमें चक्रवर्ती सम्राट् भी जैनधर्मके अनेकान्त तत्त्वका अनुसरण कर पृथ्वीके समस्त राजाओंको अपनी सार्वभौमिकताके एक सूत्रमें सङ्कलित करते थे । जैनधर्मका अनेकान्त सम्राट् तुल्य है और संसारके समस्त धर्मपन्थ जो एकान्तरूप हैं उसकी लुप्त-छायामें सङ्कलित राजाओंके समान हैं । संसारके समस्त धर्मपन्थ जैनधर्मके ही भिन्न भिन्न नय विशेष हैं । उनका परस्पर मतविरोध भले ही हो और उनके अनुयायी परस्परमें विरोध-भाव और घृणा रखते हों किन्तु जैनधर्म उन सब धर्मपन्थोंके भिन्न भिन्न नयोंका सङ्कलित समुदाय है । अतएव जैनधर्मानुयायियोंको, जो सब अनेकान्ती हैं, प्रत्येक धर्मपन्थरूपी नयसे विरोध और घृणाके भाव न रखकर माध्यस्वरूपसे प्रत्येक धर्मपन्थके सिद्धान्त, विचार और प्रवृत्तियोंका अपने नयज्ञानमें स्पष्टीकरण करना चाहिए । बड़े हर्षकी बात है कि जगत्के विद्वानोंमें मतान्तर-क्षमता या परमत-सहिष्णुता बढ़ रही है । इसका कारण अनेकान्त तत्त्वका अव्यक्त रूपसे

प्रचार ही है । परन्तु हमारे अधिकांश जैनधर्मानुयायी जो अपनेको अनेकान्तवादी कहते हैं, कट्टर एकान्ती बने हुए हैं और अपनी कृपमण्डक वृत्तिसे अनेकान्तके वास्तविक प्रभुत्वको जो दीर्घकालसे लुप्तप्राय हो रहा है, प्रकाशमें लानेकी अपेक्षा नामशेष करनेकी चेष्टामें ही लगे हुए हैं, यह जानकर किसे खेद न होगा ! ऐसे लोगोंको अपने अपने सम्प्रदायके अतिरिक्त अन्य साहित्यका माध्यस्वरूपसे अवलोकन करना भी महान् मिथ्यात्व और साम्प्रदायिक सिद्धान्तों तथा नियमोंके विपरीत जँचता है; ऐसी अवस्थामें यदि कोई साहस कर निर्भीक विचार प्रकट भी करना चाहे तो चारों तरफसे उसके प्रति अनेक प्रकारके आक्रमण होने लगते हैं । धर्मके ठेकेदार समाजमें शीघ्र ही यह घोषणा कर देते हैं कि अमुक अमुक व्यक्ति धर्मका शत्रु है, उसके विचार कोई न माने न सुने और ऐसे विचार जिन पत्रोंमें प्रकाशित होते हों उन पत्रोंको भी कोई जैनी न खरीदे । पर वास्तवमें देखा जाय तो ये धर्मके ठेकेदार ही धर्मके हित-शत्रु हैं जो भोली जनताको अपने पूर्वजोंके धर्मरहस्यका विपरीत अर्थ समझाकर और पूर्वजोंके नामकी दुहाई देकर जैनधर्मके रहे सहे प्रभुत्वको भी नष्ट भ्रष्ट करना चाहते हैं । वे लोग अपने दिलमें तो शायद यही सोचते हैं कि हम अपने धर्मकी रक्षाका उपाय कर रहे हैं, परन्तु धर्मकी असलियत उन्हींकी कृतियोंसे दिन पर दिन नष्ट होती जा रही है ।

अन्तमें श्रीमद् रायचन्द्रजी काव्यमालाके प्रथम गुच्छकसे, अध्यात्मप्रेमी श्रीआनन्दधनजीकी स्तुत्यात्मक एक पद्य रचना उद्धृत करके हम पाठकोंसे प्रेरणा करते हैं कि वे उस पर विचार करें ।

गुजराती पद्य

षड्दर्शनं जिन अंग भणिजे,
 न्यास षडंग जो साधेरे ।
 नामि जिनना चरण उपासक,
 षड्दर्शन आराधेरे ॥ षड्० ॥

जिन सुर पादप पाय वखाणुं,
 सांख्य योग दोय भेदेरे ।
 आत्मसत्ता विवरण करतां,
 लहो दुग अंग अखेदेरे ॥ षड्० ॥

भेद अभेद सुगत मिमांसक,
 जिनवर दोय कर भारी रे ।
 लोकालोक अवलम्बन भजिये,
 गुरुमग थी अवधारी रे ॥ षड्० ॥

लोकायत कूल जिनवरनी,
 अंश विचार जो कीजे रे ।
 तत्त्व विचार सुधारस धारा,
 गुरुमग विण किम पीजे रे ॥ षड्० ॥

जैन जिनेश्वर उत्तम,
 अंग रंग बहिरंग रे ।
 अक्षर न्यास धरा आराधक,
 आराधे धरी संगे रे ॥ षड्० ॥

भावार्थ—षड्दर्शन जिनेन्द्र भगवान्-के भिन्न भिन्न अङ्ग हैं। जो लोग जिनेन्द्र भगवान् श्रीनेमिप्रभुके चरण-उपासक हैं अर्थात् सच्चे जैन हैं वे जैन शासनमें षड्दर्शनका आविर्भाव देखते हैं और जिनेन्द्र भगवान्की आकृतिमें—छः अंगोंमें—छः दर्शनोंकी स्थापना घटित होती है। जिनेश्वरके कल्पतरु समान दो पैर सांख्य और योग ये दो अंग हैं। ये दोनों अंग आत्माकी सत्ता मानते हैं। इस अपेक्षासे सांख्य और योग दो पैर रूप कहे हैं। इससे स्वयं तो मतान्तर-रहितता प्रकट होती है किन्तु पाठकोंको भी रचयिता आदेश करते हैं कि इस बातको खेदरहित होकर ग्रहण करो। भेदवादी, अभेदवादी

अर्थात् सुगत (बुद्ध) प्रणीत बौद्धदर्शन और जैमिनि प्रणीत पूर्व और व्यास प्रणीत उत्तर मीमांसा (वेदान्त) मिलाकर मीमांसा दर्शन जिनेश्वरके दो हाथ हैं। क्योंकि जैनसिद्धान्त में वस्तुकी स्वभावरूप और विभावरूप ऐसी दो प्रकारकी पर्यायें मानी हैं और पर्यायमें सदैव उत्पाद व्यय हुआ करता है। इस दृष्टिसे पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा बौद्धदर्शन भी जिनेश्वरका एक अंग कहा है। पर्यायसे आत्मा क्षण क्षण बदलती रहती है, यह कहना सर्वथा असत्य नहीं, पर कई अंशोंमें सत्य है। व्यवहार नयसे भी पर्यायान्तर कालसे आत्माको देखते हुए बौद्धदर्शन तथ्य रूप है। मीमांसक आत्माको एक, नित्य, अबद्ध, त्रिगुण अबाधित ऐसा मानते हैं। वस्तु स्वभावकी दृष्टिसे निश्चय नयकी अपेक्षा यह बात ठीक है। क्योंकि सब आत्माएँ सत्तामें एक समान होनेके कारण आत्मा एक ही गिना जाता है। आत्माको बन्ध नहीं, इस दृष्टिसे शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा मीमांसादर्शनको भी जिनेश्वरका एक अंग कहा है। बौद्धदर्शन व्यवहार नयपूर्वक सिद्ध है इसलिये बायाँ हाथ और मीमांसा दर्शन निश्चय नयसे योग्य है, इसलिये दाहिना हाथ कहलाता है।

श्री आनन्दधनजीने भिन्न भिन्न दर्शनोंके प्रति समदृष्टि रखते हुए जिनेश्वरके अंग मान अपनी मतान्तर-रहितता प्रकट की है। परन्तु विशेष बात तो यही है कि चार्वाक अथवा नास्तिकवादियोंका भी खण्डन न करते हुए जिन दर्शनमें मिलानेकी परम गम्भीर शैली स्वीकार की है। आपने चार्वाक मतको श्रीजिनेश्वरका पेट (उदर) माना है, वह इस हेतुसे कि चार्वाक जगत्का कोई कर्ता नहीं मानते, वस्तु-स्वभावके अनुसार अनादि कालसे

जगत्में उत्पत्ति, स्थिति और लय हुआ करता है। यह बात जैनसिद्धान्तके अवि-रुद्ध है। जैनदर्शनको उत्तम अंग अर्थात् मस्तक (सिर) माना है। इस प्रकार षड् दर्शन जैनधर्मके भिन्न भिन्न अंग प्रतीत होते हैं। यही जैनधर्मकी अनेकान्तात्मक प्रभुता है।*

पक्षपात-दृष्टि गुण दोषोंका विवेक नहीं होने देती। वह मनुष्यको हठग्राही बना देती है। उसमें श्रद्धाके न होते हुए भी, कषायवश, किसी बात पर व्यर्थका आग्रह किया जाता है और आग्रही मनुष्य युक्तियोंको खींच खींचकर उस ओर ले जानेकी चेष्टा किया करता है जिधर उसकी मति ठहरी हुई होती है।

इसके विपरीत, अपक्षपात-दृष्टि गुण दोषोंके विवेकमें प्रधान सहायक है। वह मनुष्यको न्यायी, नम्र और गुणग्राहक बनाती है। उसके कारण सत्पुरुषोंको, परीक्षा द्वारा सुनिर्णीत होनेपर, अपनी पूर्वश्रद्धा तथा प्रवृत्तिको बदलनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। वे अपनी बुद्धिको वहाँ तक ले जाकर स्थिर करते हैं जहाँ तक युक्ति पहुँचती है—अर्थात्, उनकी मति प्रायः युक्त्यानुगामिनी होती है।

--खंड विचार।

जैनधर्मका महत्त्व ।

(ले० बाबू सूरजभानजी वकील ।)

संसारमें जितने धर्म इस समय प्रचलित हैं वे चाहे और कुछ भी गीत गावें, कैसे ही खेल बनावें और तमाशे दिखावें किन्तु उन सबमें त्याग-वैराग्य ही सबसे उत्कृष्ट माना जाता है और वह मनुष्य संसार भर के वास्ते पूजनीय हो जाता है जो संसारसे मुँह मोड़कर उसके सर्व प्रकारके विषय भोगोंको लात मार साधु या संन्यासी बन जाता है और मान, माया, लोभ, क्रोध आदि कषायों को दबाकर अपनी आत्मामें लीनता प्राप्त कर लेता है वा परम पिता परमात्माका ध्यान लगाता है। यही सर्वमान्य वैराग्य धर्म जैन धर्मका प्रधान लक्षण है और इसमें अन्य धर्मोंसे यह विशेषता है कि वह साधु और गृहस्थ, गुरु और शिष्य, मुनि और श्रावक अर्थात् उन सभी मनुष्योंको, जो धर्मके मार्ग पर कदम रखना चाहें और किंचित् मात्र भी धर्म साधन करना चाहें, त्याग-वैराग्यका ही उपदेश देता है और अवल से आखिर तक अपने सम्पूर्ण स्वरूपके भीतर त्याग या वैराग्यकी ही नींव पर खड़ी करता है; त्याग-वैराग्यको ही वह अपना असली उद्देश्य बताता है और इसीको धार्मिक मनुष्यका लक्ष्य ठहराकर इसीका साधन उसके योग्यतानुसार उसको सिखाता है और आहिस्ता आहिस्ता उसे आगे बढ़ाकर परम वैराग्य की ही तरफ़ ले जाता है। इसी एक उद्देश्य की पूर्तिके लिये जैनधर्मने गृहस्थी श्रावकके ग्यारह दर्जे नियत किये हैं, मानों परम वैरागी मुनी अवस्था तक पहुँचनेके वास्ते धर्मकी सीढ़ी (नसैनी) में ११ डंडे लगाये हैं, जिन पर कदम रखते रखते गृहस्थ बड़ी आसानीसे ऊपरको चढ़ा चला जा

* इस लेखके उत्तरार्द्धमें न्यायकर्णिका नामकी गुजराती पुस्तकसे बहुत कुछ सहायता ली गई है अतएव न्यायकर्णिकाके गुजराती अनुवादक तथा प्रकाशक प्रसिद्ध पं० लालन और मि० मोहनलाल देसाई बी० ए० एल० एल० बी० इन दोनों महाशयोंका लेखक अत्यन्त कृतज्ञ है।

सकता है और परम वैराग्यको प्राप्त कर सकता है ।

यद्यपि संसारके सभी धर्मोंमें वैराग्यको परम पूज्य माना है परन्तु यह महत्त्व जैनधर्मको ही प्राप्त है कि वह गृहस्थोंके सब प्रकारके धर्मसाधनको भी वैराग्यप्राप्तिके उद्देश्यसे अंकित करता है और ऐसे ऐसे नियम बताता है जो उसको वैराग्यके ही मार्ग पर ले जायँ और वैराग्य ही की प्राप्तिका उत्साह बढ़ावें । वह गृहस्थोंके सब प्रकारके जप, तप, पूजा, पाठ, नियम, धर्म, शील, संयम और दूसरी अनेक धर्म-क्रियाओंको वैराग्यमार्गकी ही प्राप्तिका हेतु बनाता है और ऐसी रीतिसे उनका साधन सिखाता है जिससे साधकके चित्तकी वृत्ति वैराग्यकी ही तरफ़ जाय और उसीके अभ्यासमें लगे । जैनधर्म अपने परमात्माका स्वरूप भी परम वैरागी बताता है और परम वैरागी होनेके कारण उसको पूज्य ठहराता है, अर्थात् जैनधर्म परमात्माके परम वैराग्य रूप गुणोंको ही पूज्य बताता है और परमात्माके पूजनेकी प्रायः यही एक गरज सिखाता है कि उनके पूजनेसे हमारे हृदयमें भी वैराग्यकी भावना उत्पन्न हो और उत्साहित होकर हम भी वैराग्यकी प्राप्तिके मार्ग पर लगे, और संसारके मोह-जालको तोड़कर उसके फंदेसे निकल भागनेका उपाय करें ।

संसारके अन्य सभी धर्म, यद्यपि मनुष्यके वास्ते इस संसारको मायाजाल और दुःखदायी बताकर उसके त्यागनेका उपदेश देते हैं और एकमात्र परमेश्वरसे ही लौ लगानेकी आज्ञा देते हैं । परन्तु इसके विपरीत उस परमेश्वरका ऐसा ही स्वरूप बताने लग जाते हैं कि वही इस संसाररूपी मायाजालको रचता है; वही संसारकी अनन्तानन्त वस्तुओंको

बनाकर और उनके अनन्तानन्त रूप दिखाकर इस संसारचक्रको चलाता है; वही क्षण क्षण में लाखों और करोड़ों जीवोंको मृत्युका ग्रास बनाता है और लाखों करोड़ोंको नवीन जीवन धारण कराता है; वही किसीको सुखी और किसीको दुःखी बनाता है, हैजा, म्लेग और महामारी आदि फैलाकर महा हाहाकार मचवाता है, लाखों और करोड़ों प्रकारके पौधे उगाता है, तरह तरहके फल फूल लगाता है और फिर नाश करके उनको मिट्टीमें मिला देता है; वही कहीं परवा और कहीं पछुवा हवा चलाता है, आकाशके अनन्तानन्त तारोंको भिन्न भिन्न प्रकारकी चाल चलाकर कहीं अंधेरा और कहीं चाँदनी कराता है, कहीं अधिक पानी बरसाकर गाँवके गाँव बहाता है और कहीं एक भी बूँद न बरसाकर त्राहि त्राहि कराता है । गरज, परमेश्वरको इतने भारी बखेड़ेमें फँसा हुआ बतलाते हैं कि संसारके सब जीव मिलकर भी इतने भारी बखेड़ेमें फँसे हुए न होंगे । जैनधर्मके सिवाय, संसारके अन्य सभी धर्मोंमें यह पूर्वापर विरोध और आश्चर्यकी बात देखनेमें आती है कि संसारके सब जीवोंको वे इन सब बखेड़ोंको त्यागकर एक ईश्वरमें ही लौ लगानेका उपदेश देते हैं, परन्तु जब उस ईश्वरकी स्तुति सुनाते हैं और उसके गुण गाते हैं तब प्रशंसारूपसे संसारके ये सब बखेड़े उसीके सिर मढ़ देते हैं और उसको महादीर्घ संसारी बताकर ही कृतकृत्य होते हैं । ऐसे पूर्वापर विरोधकी हालतमें हम नहीं समझते कि किस प्रकार ये संसारी जीव परम संसारी ईश्वरसे लौ लगाकर संसारसे मुँह मोड़ सकते हैं और परम वैराग्य धारण कर सकते हैं ।

संसारके अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा जैनधर्ममें यही एक खास खूबी है और

यही उसकी उत्कृष्ट महिमा है कि उसमें किंचित् मात्र भी पूर्वापर विरोध नहीं है। उसने जिस परम वैराग्यको धर्मका उद्देश्य बताया है उसीको अश्वलसे आखिर तक निवाहा है। उसीको अपने परम पूज्य परमात्माका स्वरूप बताया है और वही एक मार्ग गृहस्थीको भी सिखाया है। जैनधर्ममें ऐसा नहीं है कि साधुका मार्ग तो पूर्वको जाता हो और गृहस्थका पश्चिमको, साधुको तो वैराग्य सिखाया जाता हो और गृहस्थको संसारके पकड़नेका पाठ पढ़ाया जाता हो; पूजकका धर्म तो वैराग्य ठहराया जाता हो और पूज्यको महासंसारी बताया जाता हो; दयाधर्मकी डींग मारी जाती हो और साथ ही हिंसाके द्वारा अपने पूज्य देवताओं तथा परमपिता परमात्माका प्रसन्न होना माना जाता हो। ये सब पातें जैनधर्मकी प्रकृतिके विरुद्ध हैं। जैनधर्म तो साफ़ और सीधा वैराग्य-धर्म है। धर्मका पक्ष मात्र करनेवाले सबसे घटिया जैनी (पाक्षिक श्रावक) से लेकर सबसे ऊँचे दर्जेके साधु-संन्यासियोंतकको वह वैराग्यका ही पाठ पढ़ाता है और उनकी अवस्था तथा शक्तिके योग्य थोड़ा थोड़ा वैराग्य सिखाकर उनको ऊँचे चढ़ाता है, यहाँतक कि अन्तमें राग द्वेषसे सर्वथा रहित हो जाने पर उनको ही परमात्मा ठहराता है और उनके राग-द्वेषरहित होनेके कारण ही उन्हें पूज्य बताया है।

जैनधर्मकी स्तुति, भक्ति, पूजापाठ, जप करना और नाम लेना आदि सब ही धर्मक्रियायें इसी एक सिद्धान्त पर अवलम्बित रहती हैं और उनका लक्ष्य यही होता है कि परम वैरागी महान् आत्माओंके गुणगान, पूजा, भक्ति और स्मरणसे उनका वह वैराग्यरूपी गुण

हमारे हृदयमें प्रवेश कर जाय और हमें भी वैराग्य मार्ग पर चलनेकी प्रेरणा हो जाय। इसीसे जैनधर्ममें अपने परमात्माकी मूर्ति भी परम वैराग्यरूप ही बताते हैं और उसके दर्शनोंसे प्रायः वैराग्यका ही लाभ उठाना चाहते हैं। जैनधर्मके साधु सब प्रकार के परिग्रहोंसे रहित होते हैं और लँगोटीतक भी रखने नहीं पाते। वे आत्मध्यानमें लीन होकर देहसे भी ममत्व त्याग देते हैं, यहाँतक कि यदि कोई दुष्ट उनके शरीरको किसी प्रकारकी पीड़ा पहुँचावे, काटे, छेदे, फूँके, जलावे तो भी वे कुछ पर्वाह नहीं करते और न अपने ध्यानसे डिगते हैं। ऐसी ही ध्यानारूढ़ परम वैराग्य अवस्थाकी नग्न दिगम्बर मूर्ति जैनी लोग बनाते हैं और उसके दर्शनोंसे वैराग्यकी प्रेरणा अपने हृदयमें लाते हैं।

संसारके प्रायः सभी मनुष्योंका ऐसा कायदा है कि जिसको जो पसन्द होता है और जो स्वयं जैसा होना चाहता है, वह वैसे ही मनुष्योंकी प्रशंसा अपने मुखसे किया करता है, उनकी जीवनी पढ़ा तथा सुना करता है, उन्हींके गुणानुवाद गा गाकर अपने जीको खुश किया करता है और उन्हींकी मूर्तियोंसे अपने घरको सजाता है। इसी लिये पोलिटिकल आन्दोलनमें रुचि रखनेवाले मनुष्य लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी, और लाला लाजपतराय आदि पोलिटिकल लीडरोंकी मूर्तियाँ अपने कमरोंमें लगाते हैं; युद्धके इच्छुक बड़े बड़े योद्धाओंकी मूर्तियाँ खरीदकर लाते हैं और विषयी पुरुष अपने कमरोंमें सुन्दर सुन्दर वेश्याओंकी मूर्तियाँ (चित्र) लटकाते हैं और नित्य उन मूर्तियोंको देख देखकर वैसा ही भाव अपने हृदयमें पैदा किया करते हैं। इसी प्रकार वैराग्यके इच्छुक भी परम वैराग्य

रूप नग्न मूर्तियोंके दर्शनसे वैराग्यकी प्रेरणा पा सकते हैं। जब सभी धर्मोंमें एकमात्र वैराग्य परम धर्म माना जाता है और वैरागी साधुओंके दर्शनमात्रसे संसारी मनुष्योंका बहुत कुछ कल्याण होना समझा जा सकता है तब परम वैराग्य रूप नग्न मूर्तियाँ तो सभी मतोंके धर्ममन्दिरोंमें विराजमान होनी चाहिए थीं, जिनके दर्शनोंसे संसारी जीवोंका मोह कम होकर उनका माया-जाल टूटता और संसारकी नाशवान् वस्तुओंसे स्नेह कम होकर अपनी आत्माके कल्याणकी बातें उन्हें सूझतीं। परन्तु नहीं मालूम क्यों हमारे अन्य मतवाले भाई परम वैराग्य रूप नग्न मूर्तियोंसे लाभ नहीं उठाते और उनके स्थानमें शस्त्रधारी योद्धाओंकी मूर्तियाँ बनाकर, स्त्रीपुरुषोंके प्रेमकी मूर्तियाँ संजाकर, अथवा काली, चण्डी आदि देवियोंकी भयङ्कर मूर्तियाँ स्थापित करके धर्मसे क्या लाभ उठाना चाहते हैं और दर्शकोंके हृदयमें क्या भाव उत्पन्न करानेकी उनकी इच्छा है।

यदि कोई ऐसा मत हो जो युद्धको ही धर्म बताता हो और अपने अनुयायियोंमें युद्धका ही जोश फैलाना चाहता हो, तो उस मतमें बेशक योद्धाओंकी मूर्तियाँ बनाई जानी चाहिएँ और नाना प्रकारके शस्त्रोंके द्वारा उन मूर्तियोंको सजाना चाहिए। इसी प्रकार जो मत मोह और मायाको ही धर्म बताता हो उसको बेशक ऐसी ही मूर्तियाँ बनानी चाहिएँ जिनके देखनेसे माया तथा मोह ही उत्पन्न हो और हृदयमें स्त्रीपुरुषके आपसके प्रेमका ही सञ्चार हो। और जो लोग मनुष्यको महा भयङ्कर बनाना ही धर्मका उद्देश्य समझते हैं उन्हें भयङ्कर रूपवाली मूर्तियोंके ही दर्शन करने चाहिएँ। परन्तु जो धर्म वैराग्यको ही मुख्य

बताते हैं और वैरागियोंको ही धर्मकी ऊँची चोटी पर चढ़ा हुआ ठहराते हैं, इतना ही नहीं किन्तु, बात बातमें संसारको अस्तिर और नाशवान् बताकर उसकी तरफ़ मन न लगानेका ही राग गाते हैं वे यदि ऐसी महाराग रूप मूर्तियाँ बनावें और परम वैराग्य रूप नग्न मूर्तियोंके दर्शनसे फायदा न उठावें तो यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है। जान पड़ता है, ऐसे लोगोंने धर्मको अभी तक पहचाना ही नहीं। किन्तु एकमात्र पक्षपातके वश होकर ही वे धर्म धर्म चिन्ता रहे हैं और पक्षपातके कारण ही किसी एक धर्मका अनुयायी होना उन्होंने स्वीकार किया है।

जन्म जन्मान्तर और लोक परलोकके माननेके विषयमें इस समय मतमतान्तरोंमें बहुत ज्यादा भेद चल रहा है। मुसलमान और ईसाई तो कहते हैं कि जीवोंका न तो कोई पहला जन्म था और न उनके भले या बुरे पहले कोई कर्म ही थे जिनके फलस्वरूप उनको इस जन्ममें सुखी, दुखी, अमीर, गरीब, बली, निर्बल, रोगी, निरोगी बनाया गया हो, किन्तु एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही सब जीवोंको, अपनी स्वतन्त्र इच्छाके अनुसार, सुखी, दुखी, राव और रङ्क नाना रूप बनाता रहता है और उसका ऐसा ही दृष्टान्त है जैसा कि मनुष्य कपड़ा बुनकर अपने खच्छन्द इच्छानुसार उसके एककी टुकड़ेकी तो टोपी बना लेता है और एक लँगोटी; अथवा पहाड़से पत्थर लाकर या मिट्टीकी ईंटें पकाकर अपने इच्छानुसार कुछ पत्थर और ईंटोंसे तो पूजाकी पवित्र वेदी बनाता है और कुछ पत्थर तथा ईंटोंसे मलमूत्रके त्यागनेका संडास बनवाता है। इस प्रकार ये मुसलमान और ईसाई लोग जीवोंके पिछले कर्मोंके बगैर ही ईश्वरके इच्छानुसार उनकी नाना

प्रकारकी भली बुरी अवस्थाका होना मानते हैं। परन्तु शोक है कि वे अपनी मान्यता पर दृढ़ताके साथ कायम नहीं रहते। वे आगे चलकर स्वयं यह कहने लगते हैं कि जीवोंके इस जन्मकी अवस्था उनके पिछले कर्मोंका फल नहीं है तो भी इस जन्ममें वे जैसा कर्म करेंगे, आगामी जन्ममें उनको उसका वैसा फल अवश्य भोगना पड़ेगा। अर्थात्, इन जीवोंका दूसरा जन्म बनाते समय ईश्वर अपनी स्वच्छन्द इच्छाके अनुसार नहीं प्रवर्तेंगा; किन्तु इन जीवोंके इस जन्मके कर्मानुसार ही उनको सुखी दुखी बनावेगा; और वह आगामी जन्म ऐसा विलक्षण होगा जो अनन्तानन्त काल तक एक ही समान रहेगा; अर्थात् उस दूसरे जन्मके पश्चात् फिर कोई जन्म ही न हो सकेगा। भावार्थ यह कि, न तो उस दूसरे जन्मका कोई अन्त ही होगा और न उस दूसरे जन्मके कर्मोंका कभी कोई फल ही मिलेगा; वहाँ तो उनको सदाके लिये एक ही अवस्थामें पड़ा रहना होगा।

पाठक यह बात भली भाँति जानते हैं कि अपराधीको जो दंड दिया जाता है वह इसी कारण दिया जाता है कि जिससे फिर वह ऐसा अपराध न करे और अन्य मनुष्योंको भी वैसा अपराध करनेका हौसला न हो। और प्रशंसनीय कार्य करनेवालेको जो इनाम दिया जाता है वह भी इसी वास्ते दिया जाता है जिससे उसका उत्साह बढ़े और आगेको वह ऐसे प्रशंसनीय कार्य करता रहे। साथ ही दूसरोंको भी ऐसे ही ऐसे कार्य करनेकी प्रेरणा होती रहे। परन्तु मुसलमान और ईसाई मतके अनुसार यदि जीवोंको आगामी जन्ममें अर्थात् स्वर्ग वा नरकमें सदाके लिये सुखी वा दुःखी रूप एक ही अवस्थामें रहना होगा तो वह किसी प्रकार भी दंड

या इनाम नहीं माना जा सकता; क्योंकि दंड भुगतनेके बाद उसे ऐसा कोई अवसर नहीं दिया जायगा जिससे वह दंडसे भय खाकर आगेको बुरे कामोंसे बचने लग जाय और सीधी चाल चलकर दिखावे, किन्तु उसको तो अनन्तानन्त काल तक दंड ही भुगतना पड़ेगा और नरकमें ही पड़ा रहना होगा। इसी तरह इनाम पानेवालोंको भी ऐसा कोई अवसर नहीं मिलेगा जिसमें वे और भी अधिक अधिक प्रशंसनीय काम करके दिखावें; किन्तु उनको भी अनन्तानन्त काल तक इनाम ही भोगना होगा और स्वर्गमें ही रहना होगा। इसलिये मुसलमान और ईसाई मतका दंड विधान तथा कर्मफल सिद्धान्त भी ऐसा ही विलक्षण है जैसा कि पहले जन्मके कर्मोंके बगैर ही इस जन्मकी नानारूप अवस्थाका पाना। मालूम नहीं इन दोनों मतोंमें जीवोंके इस जन्मकी नाना रूप अवस्थाके वास्ते ईश्वर की स्वच्छन्द इच्छा और स्वतन्त्र अधिकार को वर्णन करके आगामी जन्मके वास्ते क्यों उसकी इस स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रताको छीन लिया है, क्यों जीवोंके इस जन्मके कर्मोंके अधीन ही प्रवर्तनेके लिये उसे बाध्य कर दिया है और क्यों ऐसा अद्भुत सिद्धान्त बना दिया है जिसमें न तो ईश्वरकी स्वच्छन्द इच्छा ही रही और न दंडका ही विधान कायम रह सका। बल्कि एक बिल्कुल बेतुकी सी बात बन कर कहींकी ईंट कहींका रोड़ावाली कहावत चरितार्थ हो गई।

इसके सिवाय इनके इस कथनमें सबसे बड़ी आपत्ति यह आती है कि जब कि ईश्वरने जीवोंके कर्मोंके बगैर ही अपनी स्वच्छन्द इच्छासे उन्हें बुद्धिमान् या कुबुद्धि, धनवान् या दरिद्र, रोगी या निरोगी आदि नाना रूप बनाया है और

किसीको ठगोंके यहाँ पैदा करके ठगीकी विद्या सिखाई, किसीको महा मिथ्यावादी और अधर्मी काफिरोंके यहाँ जन्म देकर अधर्मकी शिक्षा दिलाई, किसीको धर्मकी तरफ लगनेका और किसीको अधर्मकी तरफ भुक्नेका अवसर दिया और इस तरह प्रत्येक जीवके वास्ते भिन्न भिन्न रूपका सामान उपस्थित किया । तब यह कैसे हो सकता है कि उन सबके कर्मोंको एक ही तराजूसे तौला जाय और एक ही कानूनसे उनका न्याय किया जाय । ऐसी दशामें तो प्रत्येक जीवके वास्ते उसकी अवस्था, योग्यता, शक्ति और परिस्थिति आदिके अनुसार ही अलग अलग कानून बनाना चाहिए था और सब ही जीवोंको उनका अलग अलग कानून सिखाया जाना चाहिए था । परन्तु हो रहा है यह कि एक ही धर्मपुस्तक सभी अवस्थाके जीवोंके वास्ते कानून स्वरूप बताई जाती है और उसके वास्ते भी ईश्वरका कोई ऐसा प्रबन्ध नहीं दिखाई पड़ता जिससे उस एक ही कानूनकी भी सब आज्ञाएँ सबको मालूम हो जायँ । किन्तु इस विषयमें और ऐसा भारी अंधेर नज़र आता है कि संसारके बहुतसे मनुष्योंको तो इन धर्मपुस्तकोंका नाम भी मालूम नहीं होता ; चुनाँचे गाँवके अनपढ़ हिन्दुओं और उनकी स्त्रियोंसे पूछनेसे यह बात आसानीसे जानी जा सकती है कि उनमेंसे बहुतोंने मुसलमानों और ईसाइयोंकी धर्मपुस्तकका नाम तक नहीं सुना । तब उनके सिद्धान्तों और आज्ञाओंको तो वे कैसे जान सकते हैं । ऐसी अवस्थामें यह कहना कि उनको उनके कर्मानुसार दंड या इनाम दिया जायगा और सदाके लिये नरक या स्वर्गमें डाल दिया जायगा, निरी धींगा-धींगी और ज़बरदस्ती नहीं तो क्या है ?

हमारे खयालमें हिन्दुओं तथा जैनियोंका सिद्धान्त ही इस विषयमें ठीक लागू होता है जो कि यह सुझाता है कि, जन्मसे ही जीवोंकी जो नाना रूप अवस्थाएँ देखी जाती हैं वे स्पष्ट तौर पर उनके पूर्व जन्मका ही नतीजा हैं । कारणसे कार्यकी उत्पत्तिका होना और भिन्न भिन्न कार्योंके कारण भी भिन्न भिन्न होना ये ऐसे अटल सिद्धान्त हैं जो सभीको मानने पड़ते हैं । इसलिये जन्मसे ही जीवोंकी भिन्न भिन्न अवस्थाका होना इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि इस जन्मसे पहले भी उनका अस्तित्व अवश्य था जहाँसे उनके साथ ऐसे भिन्न भिन्न कारण लग गये हैं जिनसे इस जन्ममें उनकी विभिन्न अवस्थाएँ हो गई हैं । अर्थात् इससे पहले जन्ममें उन्होंने भिन्न भिन्न रूपसे कर्म किये हैं जिनके फलस्वरूप ही इस जन्ममें उनकी भिन्न भिन्न रूप अवस्थाएँ हुई हैं और उस पहले जन्ममें भी उनकी भिन्न भिन्न रूप अवस्था रही होगी जिसके कारण वे भिन्न भिन्न प्रकारके कर्म कर सके होंगे । इसी तरह उनके पहले जन्मकी विभिन्न अवस्था भी उनके उससे पहले जन्मके कर्मोंका फल होगी ; और इससे यही सिद्ध होता है कि संसारके जीव जन्मजन्मान्तरसे अपने अपने कर्मोंके अनुसार ही भिन्न भिन्न अवस्था धारण करते चले आते हैं और आगेको भी अपने कर्मोंके अनुसार ही भिन्न भिन्न अवस्थारूप अनेक जन्म धारण करते रहेंगे ।

हिन्दुओं और जैनियोंका यह सिद्धान्त ऐसा सीधा सादा और न्यायसङ्गत है कि इसमें कोई आपत्ति ही नहीं आती और सभीको उत्तम कर्म करनेकी प्रेरणा हो जाती है । इसके विपरीत, जीवोंके कर्मोंके बगैर अपनी स्वच्छन्द इच्छाके अनुसार ही उनको नानारूप सुखी दुखी

बना देनेवाले एक ईश्वरके माननेकी हालतमें यही सन्देह बराबर बना रहता है कि न जाने हमको अपने कर्मोंका ही फल मिलेगा या वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपने इच्छानुसार ही प्रवर्तेंगा। ऐसी सन्दिग्ध अवस्थामें संसारके जीव निश्चित रूपसे धर्मके ऊपर आरूढ़ नहीं हो सकते किन्तु ईश्वरके इच्छानुसार आकस्मिक घटनाओंका ही श्रद्धान करके उद्यमहीन या खच्छन्द् हो जाते हैं।

कर्मोंका फल मिलते रहने और सदासे जन्म जन्मान्तर धारण करते रहनेके इस अटल सिद्धान्तके विषयमें हिन्दुओं और जैनियोंमें एक मतभेद ऐसा भारी पड़ गया है जिसने मुसलमानों और ईसाइयोंको मुँह खोलनेका हौसला दे दिया है। जैनी तो यह मानते हैं कि वस्तु-स्वभावानुसार जीवके कर्म ही उसको सुख और दुःख पहुँचाते हैं और उसकी नानारूप अवस्था बनाते हैं। परन्तु हिन्दू लोग इसके विपरीत ऐसा मानते हैं कि एक न्यायकारी ईश्वर ही जीवोंको उनके कर्मोंका फल देता है और दण्डस्वरूप या इनाम स्वरूप उनको सुखी तथा दुखी बनाता है। हिन्दुओंकी इस मान्यता पर मुसलमान और ईसाई यह आपत्ति लाते हैं कि जब किसी अपराधीको न्यायालयसे कोई दण्ड दिया जाता है तो अन्धके समान उसको अचानक ही दुःख देना शुरु नहीं कर दिया जाता बल्कि स्पष्ट रूपसे यह बताना ज़रूरी होता है कि तुम्हारे अमुक अपराधका ही यह दण्ड तुमको दिया गया है जिससे आगेके लिये वह उस प्रकारका अपराध करनेसे डरे और दूसरोंको भी उसके दण्डसे शिक्षा मिले। यदि अपराधीको इस प्रकार उसका अपराध न बताया जाकर वैसे ही दण्ड दे दिया जाय तो वह दण्ड बिल-

कुल ही निष्फल हो जाता है और दण्ड देनेवाला न्यायाधीश भी मूर्ख ठहराया जाता है। इनाम देनेकी भी ऐसी ही बात है। जब तक इनाम मिलनेवालेको यह नहीं बताया जाता कि तेरे अमुक उत्तम कार्यसे प्रसन्न होकर तुझे यह इनाम दिया जाता है तब तक वह इनाम भी कुछ कार्यकारी नहीं होता और उसका देनेवाला भी मूर्ख समझा जाता है। इसी लिये यदि परमेश्वरने जीवोंकी यह नानारूप अवस्थाएँ उनके पहले जन्मके कर्मोंके फलस्वरूप ही बनाई होतीं तो उन सबको ज़रूर यह भी स्पष्ट तौर पर बताया जाता कि तुम्हारे अमुक अमुक बुरे कर्मोंके दण्डस्वरूप तुम्हारी यह यह बुरी दशा बनाई गई है और अमुक अमुक अच्छे कर्मोंके इनामके तौर पर तुम्हारी यह अच्छी दशा की गई है; परन्तु यहाँ तो किसी जीवको यह सब बातें मालूम नहीं हैं, बल्कि संसारके जीवोंको यह भी मालूम नहीं है कि हमारा कोई पहला जन्म था भी या नहीं; यदि था तो उसमें हमारी क्या क्या पर्याय थी और उस पर्यायमें हमने क्या क्या कर्म किये थे। संसारके जीव तो इन सब बातोंसे बिलकुल ही अनजान मालूम होते हैं, जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि ईश्वरने जीवोंके कर्मोंके दण्डस्वरूप या इनाम-रूप उनकी यह दशा नहीं बनाई। किन्तु विचित्ररूप संसार रचनेके वास्ते अपनी स्वतन्त्र इच्छाके अनुसार ही उनकी भिन्न भिन्न रूप दशा बना दी है।

इसी प्रकार ईश्वरवादी हिन्दुओं पर हमारे मुसलमान और ईसाई भाई यह भी आपत्ति लाते हैं कि ऐसा कोई न्यायाधीश नहीं हो सकता जो अपराधीको ऐसी सज़ा दे जिससे उसको अपराध करनेमें और भी ज्यादा सुबिधा हो जाय, वह अधिक अधिक अपराध करना सीख

जाय अथवा अपराध करनेके वास्ते ही बाध्य हो जाय । इसलिये जो बच्चे ठगोंके घर पैदा होकर ठगीकी शिक्षा पाते हैं और ठग बन जाते हैं, जो कन्याएँ वेश्याओंके यहाँ जन्म लेकर व्यभिचारकी शिक्षा पाती हैं और व्यभिचारिणी बन जाती हैं, जो बच्चे अधर्मियों तथा पापियोंके यहाँ पैदा होकर अधर्म और पापके काम करने लग जाते हैं, मुसलमान और ईसाइयोंके यहाँ जन्म लेकर मुसलमान तथा ईसाई बन जाते हैं और हिन्दूधर्मके विरुद्ध कार्योंको भी धर्म मानने लग जाते हैं, जैनीके घर पैदा होकर जगत्कर्ता ईश्वरके अस्तित्वसे भी इनकार करने लग जाते हैं; इसी प्रकार शेर, चीते और भेड़िये आदि वे पशु जो मांसके सिवाय और कुछ भी नहीं खा सकते और अपनी सारी उमर घोर हिंसामें ही बिता जाते हैं, उन सबकी बाबत यह कैसे मान लिया जाय कि किसी न्यायकारी बुद्धिमान ईश्वरने उनके पिछले जन्मके कर्मोंके दण्डस्वरूप ही उनकी यह दशा बनाई है; दण्डस्वरूप ही अपराध करनेकी उन्हें शिक्षा दिलाई है, दण्डस्वरूप ही अपराध करनेकी उनकी आदत बनाई है अथवा प्रकृति ठहराई है । इससे तो यही नतीजा निकलता है कि न तो कोई पिछला जन्म है और न कोई उस जन्मके कर्म हैं जिनके फलस्वरूप जीवोंकी यह दशा बनाई गई हो; किन्तु वहां जान पड़ता है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वरने जीवोंके पहले कर्मोंके बगैर ही अपने इच्छानुसार किसीकी कुछ अवस्था बना दी है और किसीकी कुछ, और इस तरह इस संसारकी विचित्ररूप रचना करके दिखाई है ।

मुसलमानों और ईसाइयोंके इन आक्षेपोंका कुछ भी समुचित उत्तर, ईश्वरको कर्ता मानकर उसके द्वारा कर्मफल

मिलना माननेकी अवस्थामें, हमारे हिन्दू भाइयोंसे नहीं दिया जा सकता; एक मात्र जैनधर्मकी ही यह महत्ता है कि उस पर इस प्रकारका कोई आक्षेप ही नहीं हो सकता; क्योंकि जैनधर्म न्यायाधीशके समान ईश्वरको न्यायकर्ता मानकर उसके द्वारा दण्ड और इनामका विधान होना नहीं मानता, किन्तु प्रकृत रीतिसे वस्तुस्वभावके अनुसार ही प्रत्येक कारणसे उसके अनुरूप कार्यका हो जाना बताता है । उदाहरणके लिये यदि हम आगमें उँगली देते हैं तो वह जल जाती है, इसमें किसी न्यायाधीशके सामने मुकदमा पेश होने और वहाँसे उँगलीके जलाये जानेकी आज्ञा निकलनेकी आवश्यकता नहीं होती। किन्तु आगका स्वभाव ही जलानेका है, इस कारण जब कभी हमारी उँगली आगसे भिड़ जाती है तब वह जल जाती है। यहाँ तक कि यदि कोई हमारी इच्छाके विरुद्ध जबरदस्ती भी हमारी उँगली आगके अन्दर कर दे जिसमें हमारा कुछ भी द्रोष नहीं होता है तब भी वह आग हमारी उँगलीको जला देती है क्योंकि आगको कोई न्याय करना नहीं होता, उसे तो अपने स्वभावानुसार जलानेका ही काम करते रहना होता है । इसी लिये यदि किसी स्थान पर आग हो और उस पर राख होनेके कारण हमको यह बात मालूम न हो और हम अनजानमें वहाँ हाथ दे दें तो भी हमारा हाथ जल जायगा । अर्थात् वह आग हमारी जानकारी वा अनजानपन आदिका कुछ भी विचार न करेगी और अपने स्वभावानुसार जलानेका कार्य कर डालेगी । यदि किसीका कोई वैरी उसके मकानमें आग लगा देता है या हवाकी तेज़ीके कारण आगका कोई कण उड़कर किसीके मकान पर आ पड़ता है तो भी

वह आग सारे मकानको भस्मीभूत कर देती है और यह नहीं बताती कि उसके किस अपराधके कारण उसकी यह दशा बनाई गई है; क्योंकि वह आग तो न्यायाधीश बनकर दण्डस्वरूप उसका मकान नहीं जलाती किन्तु फूँकना और जलाना ही अपना स्वभाव होनेके कारण उन सब वस्तुओंको फूँक डालती है जो उससे भिड़ जाती हैं और जो आगसे जल सकती हैं ।

यदि हम कोई ऐसी वस्तु खा लेते हैं जिसको हम हज़म नहीं कर सकते तो हमारे पेटमें दर्द होने लग जाता है और पाचन ओषधि खा लेनेसे वह दर्द दूर हो जाता है । और भी अनेक प्रकारकी बीमारियाँ हमारे शरीरकी अवस्थाके प्रतिकूल पदार्थोंके मिलनेसे वा कम बढ़ती पदार्थोंके मिलनेसे उत्पन्न हो जाया करती हैं और ओषधिके द्वारा उन प्रतिकूल पदार्थोंको हटा देनेसे वा कमीको पूरा कर देनेसे दूर हो जाया करती हैं । वे प्रतिकूल पदार्थ हमारे शरीरमें घुसकर नाना प्रकारके रोग तो उत्पन्न कर दिया करते हैं और अनेक प्रकारके कष्ट भी देने लग जाते हैं परन्तु यह नहीं बताया करते कि तुम्हारे अमुक अपराधके कारण ही हम तुमको यह कष्ट दे रहे हैं; बल्कि कभी कभी तो ये प्रतिकूल पदार्थ इस प्रकार चुपके ही चुपके हमारे शरीरमें घुस जाते हैं कि हमको पता भी नहीं होता कि कब कौन प्रतिकूल पदार्थ घुस गया और किस प्रतिकूल पदार्थने हमको पीड़ा देना शुरू कर दिया है और वह किस तरह निकाला जा सकता है । इसी कारण हम वैद्यों और डाक़ूरोसे अपने शरीरकी परीक्षा कराया करते हैं और उनके द्वारा अपने रोगका कारण मालूम करना चाहते हैं । यदि कोई न्याय-

कारी बुद्धिमान ईश्वर ही हमको यह सब कष्ट पहुँचानेवाला और हमारे शरीरमें रोगोंको उत्पन्न करनेवाला होता तब तो बेशक उसको यह बता देना ज़रूरी होता कि तुम्हारे अमुक अपराधके कारण ही तुमको यह कष्ट दिया गया है, और ऐसी दशामें हमारा ओषधि करना भी बिलकुल व्यर्थ ही होता । परन्तु ये शारीरिक कष्ट तो प्रतिकूल पदार्थोंके ही मेलसे पैदा होते हैं जो सब अपने अपने स्वभावानुसार कार्य करते हैं और हमारे शरीरके परमाणुओंसे मिलकर हमको कष्ट पहुँचाते हैं । इसलिये ओषधियोंके द्वारा इन प्रतिकूल पदार्थोंको दूर कर देनेसे रोग भी दूर हो जाते हैं और इन प्रतिकूल पदार्थोंको, कष्ट देते समय, यह बताना भी नहीं पड़ता कि मनुष्य अथवा पशुको उसके अमुक अपराधके कारण ही यह कष्ट दिया जा रहा है ।

स्वभावानुसार एक पदार्थका दूसरे पदार्थों पर असर पड़नेके कारण उन पदार्थोंको यह भी देखना नहीं होता कि जिस पदार्थ पर मैं असर डाल रहा हूँ, मेरे असर डालनेसे उसकी वृद्धि होगी या हानि, वह बिगड़ेगा या सुधरेगा, सीधे मार्ग पर चलने लग जायगा या उल्टे पर । संसारके पदार्थोंको इन बातोंसे क्या मतलब ? वे कोई जगत्कर्ता ईश्वर, हाकिम या न्यायाधीश तो हैं ही नहीं जो उनको इन बातोंके विचारनेकी ज़रूरत हो । वे तो बेचारे अपने स्वभावानुसार काम करते हैं और इस बातके ज़रा भी ज़िम्मेदार नहीं होते कि उनसे किसीको हानि होगी या लाभ । उदाहरणके लिये यदि कोई पुरुष शराब पीकर उन्मत्त हो जाय और अधिक अधिक तेज शराब माँगने लग जाय तो शराब पर यह दोष नहीं लग सकता कि तूने उसकी दशा ऐसी क्यों

बिगाड़ दी जिससे वह और भी ज्यादा तेज़ शराब पीने लग गया और अधिक अधिक पागल होता चला गया। हाँ, यदि शराब स्वयं तो किसी पर किसी प्रकारका कोई असर पैदा न कर सकती बल्कि कोई न्यायकारी संसारका प्रबन्धकर्ता ईश्वर ही शराब पीनेवालेकी दुर्गति दण्ड-स्वरूप बनाया करता तो वह ज़रूर उसको पेसी ही सज़ा देता जिससे वह आगेको शराबका नाम भी न लेता और उससे कोसों दूर भागता फिरता। न्यायकारी ईश्वरके द्वारा शराब पीनेके दण्डस्वरूप शराब पीनेवालेकी यह दशा कभी नहीं बनाई जा सकती कि वह और भी ज्यादा तेज़ शराब पीने लग जाय और अधिक अधिक शराब पीनेके अलावा अन्य अनेक अपराध भी करने लगे और उलटी ही उलटी चाल चलने लग जाय। परन्तु होता ऐसा ही है, जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि कोई न्यायकारी जगदीश शराबका असर नहीं कराता है किन्तु शराब ही अपने स्वभावानुसार पीनेवालेको पागल बनाती है जिससे उसकी बुद्धि भ्रष्ट होकर वह अपने ही हाथों अपना सत्यानाश करने लग जाता है और हानि-लाभके विचारको छोड़ बैठता है।

किसी न्यायकारी ईश्वरके द्वारा कर्मोंका फल मिलना जैनधर्म नहीं मानता, इसलिये उपर्युक्त प्रकारका कोई आक्षेप उस पर नहीं पड़ सकता; बल्कि उसके वस्तुस्वभावी प्राकृतिक सिद्धान्तोंके अनुसार सभी बातें ठीक बैठ जाती हैं और कोई आपत्ति नहीं आने पाती। यदि यह माना जाय कि कोई न्यायकारी ईश्वर ही कर्मोंका फल देता है तब तो किसी जीवके क्रोधरूपी अपराधका वह यह फल नहीं दे सकता कि वह अधिक अधिक क्रोधी हो जाय किन्तु उसको तो ऐसा ही

दण्ड देना शोभा देता है जिससे वह जीव फिर क्रोध न करने पावे। परन्तु यदि न्यायकारी ईश्वरके द्वारा कर्मोंका फल मिलना न माना जाय बल्कि जैन सिद्धान्तानुसार वस्तुस्वभावसे ही संसारका सब कार्य होता हुआ स्वीकार किया जाय तब तो क्रोध करनेका यही फल होगा कि क्रोधका अधिक अभ्यास हो जायगा और जितना जितना अधिक क्रोध किया जायगा और जितनी जितनी बार किया जायगा उतना ही उतना अधिक अभ्यास और संस्कार पड़ता चला जायगा; इसी कारण जो जीव इस जन्ममें स्वभावसे ही अधिक क्रोधी हैं अर्थात् जन्मसे ही क्रोध करनेका स्वभाव लेकर आये हैं उनकी बाबत यही सिद्धान्त निश्चित होता है कि पूर्व जन्ममें उन्होंने अधिक क्रोध किया है जिससे उनको क्रोध करनेका ऐसा भारी अभ्यास हो गया है कि इस जन्ममें भी वह संस्कार उनके साथ आया है। इसी प्रकार मान, माया, लोभ आदिक अन्य सब प्रकारके भावोंकी बाबत भी ऐसा ही निश्चय किया जाता है। और जिन जीवोंके चित्तकी वृत्ति इस समय पापों तथा अपराधोंकी ही तरफ़ जाती है, उनकी बाबत यही मानना पड़ता है कि पिछले जन्ममें उन्होंने अपनी पेसी ही आदत बनाई है जो उनको पापोंकी ही तरफ़ ले जाती है और अपराध करनेकी ही रुचि उत्पन्न करती है। इस प्रकार कारण और कार्यके सम्बन्धको माननेसे और कारणके अनुसार ही कार्यकी उत्पत्ति जाननेसे जीवकी प्रत्येक दशाकी बाबत उसके पूर्वजन्मके कृत्योंका अनुमान करना होता है और आगेको अच्छे अच्छे कारणोंके बनाने और अच्छा ही अच्छा अभ्यास डालनेका उत्साह बढ़ता है।

इस तरह एक न्यायकारी ईश्वर

माननेकी अवस्थामें जो जो बातें आपत्ति-रूप हो जाती हैं वे ही जैनधर्मके वस्तु-स्वभावी सिद्धान्तके अनुसार ज़रूरी नतीजा बन जाती हैं और आपसे आप सिद्ध होती चली जाती हैं। यह सब जैन-धर्मका महत्त्व है जो उसके वस्तुस्वभावी होनेके कारण ही उसमें पाया जाता है और बुद्धि तथा विचारसे काम लेने पर व्यक्त होता जाता है। विस्तारभयसे हम अपने इस लेखको यहीं समाप्त करते हैं। आशा है कि पाठकगण इसको ध्यानके साथ पढ़ेंगे और यदि यह लेख उनको पसन्द हुआ तो अपनी अपनी सम्मति प्रकट करके हमको उत्साहित करेंगे, जिससे हम इस प्रकारके अनेक लेखों द्वारा जैनधर्मका पूरा पूरा महत्त्व प्रकट करके दिखावें और जगत्के लोगोंका भ्रम मिटावें। शोक है कि जैनधर्मके ये सब तात्त्विक रत्न अनेक प्रकारकी रूढ़ियों और प्रवृत्तियोंके परदेमें छिपे पड़े हैं; वे रूढ़ियाँ तथा प्रवृत्तियाँ ही सामने दिखाई दे रही हैं और वे ही एक मात्र जैनधर्म मानी जाने लग गई हैं। इसीसे इस सर्वोत्कृष्ट जैनधर्मकी कुछ भी प्रभावना नहीं होने पाती और संसार भरमें इस धर्मके माननेवाले मुट्टी भर जैनियोंकी संख्या दिन पर दिन और भी घटती चली जाती है, जब कि अन्य सभी धर्मोंकी संख्या वृद्धि पर है।

संशोधन ।

इस अंकके पृष्ठ ३ पर दूसरे कालम-की २६ वीं पंक्तिमें 'नहीं है' शब्दोंके बाद और डैश (—) से पहले निम्नलिखित वाक्य छपनेसे रह गया है; पाठक उसे सुधार लें:—“आत्माकी परम विशुद्ध अवस्थाका नाम ही परमात्मा है।”

समाज शास्त्रका नवीन सिद्धान्त ।

[श्रीयुक्त निहालकरण सेठी, एम. एस. सी.]

जब सारे संसारमें दिन रात उन्नति-का प्रयत्न हो रहा है और भारतवर्षके सामाजिक तथा राजनैतिक नेतागण, देशभक्त कवि और लेखक गला फाड़ फाड़कर 'जागो जागो' की ध्वनिसे आकाशको गुँजा रहे हैं और इस अभाग्य देशकी कुंभकर्णी नींदके न टूटने पर आँसू बहा बहाकर पुनः द्विगुणित बलपूर्वक 'उठो उठो अब तो उठो' आदि शब्दोंके द्वारा अपनी सोई हुई जन्मभूमिको जगानेका प्रयत्न कर रहे हैं, यहाँ तक कि जैन समाजके मृतप्राय लोग भी कभी कभी इस प्रबल ध्वनिके कारण सहसा बोल उठते हैं 'जागो' उस समय यह प्रश्न उपस्थित करना कि जनताका यह प्रयत्न उचित है या नहीं वास्तवमें बड़ी हिम्मत-का काम है। जैनसमाजके भाग्यसे इस कठिन कर्त्तव्यको पूर्ण करनेका साहस उसीके एक मासिकपत्र (पद्मावती पुर-वाल) को हुआ है। उसमें निम्नलिखित शब्दों द्वारा इस महत्त्वपूर्ण किन्तु आज-कलके मनुष्योंके अगम्य सिद्धान्तकी व्याख्या की गई है* ।

'जीवमात्रमें जैसी जाग्रत और निद्रित अवस्थाएँ हैं समाजको भी वैसी ही जाग्रत और निद्रित अवस्थाएँ हैं। वैज्ञानिकोंका कहना है कि जाग्रत अवस्थामें जीव मस्तिष्कसे काम लेते हैं इससे मस्तिष्कमें थकावट आती है। निद्राके द्वारा वह थकावट दूर होती है। जिस प्रकार शारीरिक परिश्रम करनेसे शरीरका

* पद्मावती पुरवाल—श्रावण २४४६—पृष्ठ १३८,

पेशीसमूह क्षयको प्राप्त होता है और आहार-ग्रहण तथा विश्राम द्वारा वही पेशी-समूह पूर्णता प्राप्त करता है, निद्रा-के द्वारा चिन्ताक्रिष्ट मस्तिष्ककी भी हूबहू उसी प्रकार पूर्ति होती है। इस-लिये शरीर-धारण वा रक्षाके लिये निद्रा जीवमात्रको अत्यावश्यक है। हमेशा जागते रहनेमें शरीरका अवश्य विनाश होगा।

‘समाजरक्षा और उसकी पुष्टिके लिये भी निद्रा वा विश्राम अत्यन्त आवश्यक है। आर्यसमूह दीर्घ कालके जागरणके बाद अब निद्रा वा विश्राम ले रहा है। यह समाजकी मृत्यु नहीं है, निद्रा वा विश्राम मात्र है। विश्रामके बाद जब समाजकी थकावट दूर हो जायगी तब स्वाभाविक नियमानुसार समाजकी निद्रा भंग हो जायगी। इस निद्राभंगके बाद समाज फिर नूतन उत्साहसे नूतन शक्तिके साथ कार्यक्षेत्रमें प्रवेश करेगा। जिस प्रकार पूरी थकावट दूर होने से पहले, अर्थात् कच्ची नींदमें यदि किसीको जगा दिया जाय तो वह फिर सोनेकी बारंबार चेष्टा करता है, उसी प्रकार यदि अस्वाभाविक रूपसे समाजकी निद्रा भंग की जाय तो वह साधारण स्वस्थ समाजकी तरह कार्य पर तत्पर नहीं रह सकती; वह बराबर निश्चेष्ट होकर विश्राम लेना चाहती है।’

जैन समाज ! खूब खुर्राटे ले लेकर सो, क्योंकि तेरे इस सुपुत्रकी रायमें तेरे स्वास्थ्यके लिये इस समय जाग जाना अत्यन्त हानिकारक है !!! किन्तु पद्मावती-पुरवाल ! अब तुम भी सो जाओ क्योंकि ‘हमेशा जागते रहनेसे शरीरका अवश्य विनाश होगा’ और तब बेचारा जैन समाज तुम्हारे जैसा सच्चा हितैषी कहाँ पावेगा ! इसके अतिरिक्त इस समय अधिक प्रलाप करनेसे समाजकी लाभदायक नींदके भी असमय टूट जानेका डर है !

जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनन्दी ।

[लेखक—श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी ।]

(गतांक से आगे ।)

२—शब्दार्णव प्रक्रिया । यह जैनेन्द्र प्रक्रियाके नामसे छपी है; परन्तु हमारा अनुमान है कि इसका नाम शब्दार्णव-प्रक्रिया* ही होगा। हमें इसकी कोई हस्त-लिखित प्रति नहीं मिल सकी। जिस तरह अभयनन्दिकी वृत्तिके बाद उसीके आधारसे प्रक्रियारूप पंचवस्तु टीका बनी है, उसी प्रकार सोमदेवकी शब्दार्णव-चन्द्रिकाके बाद उसीके आधारसे यह प्रक्रिया बनी है। प्रकाशकोंने इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि प्रकट किया है; परन्तु जान पड़ता है कि इसके अन्तिम श्लोकोंमें गुण-नन्दिका नाम देखकर ही भ्रमवश इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि समझ लिया गया है। वे श्लोक नीचे दिये जाते हैं :—

सत्संधि दधते समासमभितः स्याताथर्नाभोजतं
निर्गतं बहुतद्धितं कृतमिहाख्यातं यद्यःशाकिनम् ।
सैषा श्रीगुणनन्दितामितवपुः शब्दार्णवं निर्णयं
नावत्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया १
दुरितमदेभनिशुंभकुम्भस्थलभेदनक्षमोप्रनखैः ।
राजन्मृगाधिराजो गुणनन्दी भुवि चिरं जीयात् ॥२॥
सन्मार्गं सकलमुखप्रियकरे संज्ञापिते सद्गने
प्रा(दि)ग्वासस्सुचरित्रवानमलकः कांतो विवेकी
प्रियः ।

सोयं यः श्रुतकीर्तिदेवयतिपो भट्टारकोत्तंसको
रंभ्यान्मम मानसे कविपतिः सद्राजहंसधिरम् ॥३॥

* छपी हुई प्रतिके अन्तमें “ इति प्रक्रियावतारे
कृत्रिभिः षष्ठः समाप्तः । समाप्तं प्रक्रिया । ” इस तरह
छपा है। इससे भी इसका नाम जैनेन्द्र प्रक्रिया नहीं
जान पड़ता ।

इनमेंसे पहले पद्यका आशय पहले लिखा जा चुका है। उससे यह स्पष्ट होता है कि गुणनन्दिके शब्दार्णवके लिए यह प्रक्रिया नावके समान है। और दूसरे पद्यमें कहा है कि सिंहके समान गुणनन्दि पृथ्वी पर सदा जयवन्त रहें। न मालूम इन पद्योंसे इस प्रक्रियाका कर्तृत्व गुणनन्दिको कैसे प्राप्त होता है। यदि इसके कर्ता स्वयं गुणनन्दि होते तो वे स्वयं ही अपने लिए यह कैसे कहते कि वे गुणनन्दि सदा जयवन्त रहें। इससे तो साफ़ प्रकट होता है कि गुणनन्दि ग्रन्थकर्तासे कोई पृथक् ही व्यक्ति है जिसे वह श्रद्धा-स्पद समझता है। अर्थात् यह निस्सन्देह है कि इसके कर्ता गुणनन्दिके अतिरिक्त कोई दूसरे ही हैं।

तीसरे पद्यमें भट्टारकशिरोमणि श्रुतकीर्ति देवकी प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है कि वे मेरे मनरूप मानससरोवरमें राजहंसके समान चिरकाल तक विराजमान रहें। इसमें भी ग्रन्थकर्ता अपना नाम प्रकट नहीं करते हैं; परन्तु अनुमानसे ऐसा जान पड़ता है कि वे श्रुतिकीर्तिदेवके कोई शिष्य होंगे और संभवतः उन श्रुतिकीर्तिके नहीं जो पंचवस्तुके कर्ता हैं। ये श्रुतिकीर्ति पंचवस्तुके कर्तासे पृथक् जान पड़ते हैं। क्योंकि इन्हें प्रक्रियाके कर्ताने 'कविपति' बतलाया है, व्याकरणज्ञ नहीं। ये वे ही श्रुतकीर्ति मालूम होते हैं जिनका समय प्रो० पाठकने शक संवत् १०४५ या वि० सं० ११८० बतलाया है*। श्रवणवेलगोलके जैन गुरुओंने 'चारुकीर्ति पंडिताचार्य' का पद शक संवत् १०३६ के बाद धारण किया है और पहले चारुकीर्ति इन्हीं श्रुतकीर्तिके पुत्र थे†। श्रवणवेलगोलके १०८ वें शिलालेख-

* देखो 'सिस्टम्स आफ़ संस्कृत ग्रामर' पृष्ठ ६७।

† देखो मेरा लिखा 'कर्नाटक जैन कवि' पृष्ठ २०।

में* इनका जिकर है और इनकी बहुत ही प्रशंसा की गई है। लिखा है—

तत्र सर्वशरीरिक्षाकृतमतिर्विजितेन्द्रियः ।

सिद्धशासनवर्द्धनप्रतिलम्बकीर्तिकाभापकः ॥१२॥

विश्रुतश्रुतकीर्तिमद्भारकयतिस्समजायत ।

प्रस्फुरद्वचनामृतांशुविनाशिताखिलहृत्तमाः ॥१३॥

प्रक्रियाके कर्ताने इन्हें भट्टारकोत्संश और श्रुतकीर्तिदेवयतिप लिखा है और इस लेखमें भी भट्टारकयति लिखा है। अतः ये दोनों एक मालूम होते हैं। आश्चर्य नहीं जो इनके पुत्र और शिष्य चारुकीर्ति पण्डिताचार्य ही इस प्रक्रियाके कर्ता हों।

समय-निर्णय ।

१—शाकटायन व्याकरण और उसकी अमोघवृत्ति नामकी टीका दोनों हीके कर्ता शाकटायन नामके आचार्य हैं, इस बातको प्रो० के० वी० पाठकने अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया है† और उन्होंने यह भी बतलाया है कि अमोघवृत्ति राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्षके समयमें उसीके नामसे बनाई गई है। इससे यह सिद्ध होता है कि शाकटायन व्याकरण (सूत्र) अमोघवर्षके समयमें अथवा उससे कुछ पहले बनाया गया होगा। अमोघवर्षने शक संवत् ७३७ से ८०० तक (वि० सं० ८७२ से ९३५ तक) राज्य किया है। अतः यदि हम शाकटायन सूत्रोंके बननेका समय वि० सं० ८५० के लगभग मान लें, तो वह वास्तविकताके निकट ही रहेगा।

शाकटायन व्याकरणको बारीकीके साथ देखनेसे मालूम होता है कि वह जैनेन्द्रसे पीछेका बना हुआ है। क्योंकि उसके अनेक सूत्र जैनेन्द्रका अनुकरण करके रचे गये हैं। उदाहरणके लिए

* देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर, किरण २-३, पृष्ठ ११८।

† देखो, इंडियन एजिटक्वेरी, जिल्द ४३, पृष्ठ २०५-१२ में प्रो० पाठकका लेख।

जैनेन्द्रके “वस्तेर्दञ्” (४-१-१५४), “शिला-याढः”, (४-१-१५५) “ढच” (४-१-२०४) आदि सूत्रोंको शाकटायनने थोड़ा बहुत फेरफार करके अथवा ज्योंका त्यों ले लिया है । जैनेन्द्रका एक सूत्र है— “टिदादिः” (१-१-५३) शाकटायनने इसे ज्योंका त्यों रखकर अपना पहले अध्याय, पहले पादका ५२ वाँ सूत्र बना लिया है । इस सूत्रको लक्ष्य करके भट्टकलंकदेव अपने राजवार्तिक (१-५-१, पृष्ठ ३७) में लिखते हैं—“कचिदवयवे टिदादिरिति ।” और भट्टकलंकदेव शाकटायन तथा अमोघवर्षसे पहले राष्ट्रकूट राजा साहस-तुंगके समयमें हुए हैं, अतएव यह निश्चय है कि अकलंकदेवने जो ‘टिदादि’ सूत्रका प्रमाण दिया है, वह जैनेन्द्रके सूत्रको ही लक्ष्य करके दिया है, शाकटायनके सूत्रको लक्ष्य करके नहीं । इससे यह सिद्ध हुआ कि शाकटायन जैनेन्द्रसे पीछेका बना हुआ है । अर्थात् जैनेन्द्र वि० सं० ८५० से भी पहले बन चुका था ।

२—वामनप्रणीत लिङ्गानुशासन नामका एक ग्रन्थ अभी हालमें ही गायकवाड़ ओरिपंटल सीरीजमें प्रकाशित हुआ है । इसका कर्ता पं० वामन राष्ट्रकूट राजा जगत्तुंग या गोविन्द तृतीयके समयमें हुआ है और इस राजाने शक ७१६ से ७३६ (वि० ८५१—८७१) तक राज्य किया है । यह ग्रन्थकर्ता नीचे लिखे पद्यमें जैनेन्द्रका उल्लेख करता है ।

व्याडिप्रणतिमथ वारदचं सचान्द्रं

जैनेन्द्रलक्षणगतं विविधं तथान्यत् ।

लिङ्गस्य लक्ष्म ही समस्य विशेषयुक्त-

मुक्तं मया परिमितं त्रिदशा इहायाः ॥३१॥

इससे भी सिद्ध होता है कि वि० सं० ८५० के लगभग जैनेन्द्र प्रख्यात व्याकरणोंमें गिना जाता था । अतएव

यह इस समयसे भी पहलेका बना हुआ होना चाहिए ।

३—हरिवंशपुराण शक सं० ७०५ (वि० सं० ८४०) का बना हुआ है । इस समय यह समाप्त हुआ है । उस समय दक्षिणमें राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (शुभतुंग या साहसतुंग) का पुत्र श्रीवल्लभ (गोविन्दराज द्वितीय) राज्य करता था । इस राजाने शक ६६७ से ७०५ तक (वि० ८३२ से ८४०) तक राज्य किया है । इस हरिवंशपुराणमें पूज्यपाद या देवनन्दिकी प्रशंसा इस प्रकार की गई हैः—

वं(इं)द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापि (डि)व्याकरणक्षिणः ।
देवस्य*देववन्द्यस्य न वदते गिरः कथम् ॥३१॥

यह बात निस्सन्देह होकर कही जा सकती है कि जैनेन्द्रव्याकरणके कर्ता देवनन्दि वि० सं० ८०० से भी पहलेके हैं ।

४—ऊपर बतलाया जा चुका है कि तत्त्वार्थराजवार्तिकमें जैनेन्द्र व्याकरणके एक सूत्रका हवाला दिया गया है । इसी तरह “सर्वादिः सर्वनाम” (१-१-३५) सूत्र भी जैनेन्द्रका है, और उसका उल्लेख राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र ११ की व्याख्यामें किया गया है । इससे सिद्ध है कि जैनेन्द्र व्याकरण राजवार्तिकसे पहलेका बना हुआ है । राजवार्तिकके कर्ता अकलंकदेव राष्ट्रकूट राजा साहसतुंग-जिसका दूसरा नाम शुभतुंग और कृष्ण भी है-की सभामें गये थे, इसका उल्लेख श्रवणवेल्लगोलकी मल्लिषेणप्रशस्तिमें किया गया है और साहसतुंगने शक संवत् ६७५ से ६८७ (वि० सं० ८१० से ८३२) तक राज्य किया है । यदि राजवार्तिकको हम इस राजाके ही समयका बना हुआ मानें, तो भी जैनेन्द्र

* देव देवनन्दिका ही संक्षिप्त नाम है । शब्दार्थवचन्द्रिकामें १-४-११४ सूत्रकी व्याख्यामें लिखा है—“देवोपक्रमनेकरोषध्यकरणम् ।”

वि० सं० ८०० से पहलेका बना हुआ सिद्ध होता है ।

उक्त प्रमाणोंसे यह निश्चय हो गया कि जैनेन्द्र के कर्ता विक्रम सं० ८०० से पहले हुए हैं । परन्तु यह निश्चय नहीं हुआ कि कितने पहले हुए हैं । इसके लिए आगेके प्रमाण देखिए ।

५—मर्करा (कुर्ग) में एक बहुत ही प्राचीन ताम्र-पत्र* मिला है । यह शक संवत् ३८८ (वि० सं० ५२३) का लिखा हुआ है । उस समय गंगवंशीय राजा अविनीत राज्य करता था । अविनीत राजाका नाम भी इस लेखमें है । इसमें कुन्दकुन्दान्वय और देशीयगणके मुनियोंकी परम्परा इस प्रकार दी हुई है:—गुणचन्द्र—अभयनन्दि—शीलभद्र—ज्ञाननन्दि—गुणनन्दि और वदननन्दि । पूर्वोक्त अविनीत राजाके बाद उसका पुत्र दुर्विनीत राजा हुआ है । हिस्ट्री आफ कनड़ी लिटरेचर नामक अँगरेजी ग्रन्थ और 'कर्नाटककविचरित्र' नामक कनड़ी ग्रन्थके अनुसार इस राजाका राज्यकाल ई० सन् ४८२ से ५१२ (वि० ५३६-६६) तक है । यह कनड़ी भाषाका कवि था । भारविके किरातार्जुनीय काव्यके १५ वें सर्गकी कनड़ी टीका इसने लिखी है । कर्नाटककविचरित्रके कर्ता लिखते हैं कि यह राजा पूज्यपाद यतीन्द्रका शिष्य था । अतः पूज्यपादको हमें विक्रमकी छठी शताब्दिके प्रारंभका ग्रन्थकर्ता मानना चाहिए । मर्कराके उक्त ताम्रपत्रसे भी यह बात पुष्ट होती है । वि० संवत् ५२३ में अविनीत राजा था । इसके १६ वर्ष बाद वि० सं० ५३९ में उसका पुत्र दुर्विनीत राजा हुआ

होगा, अतएव उसका जो राज्यकाल बतलाया गया है, वह अवश्य ठीक होगा । और जिन वदननन्दिके समय उक्त ताम्रपत्र लिखा गया है, संभवतः उन्हींकी शिष्य-परम्परामें बल्कि उन्हींके शिष्य या प्रशिष्य जैनेन्द्रके कर्ता देवनन्दि या पूज्यपाद होंगे । क्योंकि ताम्रपत्रकी मुनि-परम्परामें नन्द्यन्त नाम ही अधिक हैं, और इनका भी नाम नन्द्यन्त है । इतना ही नहीं बल्कि इनके शिष्य वज्रनन्दिका नाम भी नन्द्यन्त है; अतः जबतक कोई प्रमाण इसका विरोधी न मिले, तबतक हमें देवनन्दिको कुन्दकुन्दास्त्राय और देशीयगणके आचार्य वदननन्दिका शिष्य या प्रशिष्य माननेमें कोई दोष नहीं दिखता । उनका समय विक्रमकी छठी शताब्दिका प्रारम्भ भी प्रायः निश्चित समझना चाहिए ।

६—इस समयकी पुष्टिमें एक और भी अच्छा प्रमाण मिलता है । वि० सं० ६६० में बने हुए 'दर्शनसार' नामक प्राकृत ग्रन्थमें लिखा है कि पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिने वि० सं० ५२६ में दक्षिण मथुरा या मदुरामें द्राविडसंघकी स्थापना की:—
सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्य कारगो दुठो ।
णामेण वज्जणदी पाहुडवेदी महासत्थो ॥
पंचसए छब्बसे विक्कमरायस्स मरणपस्सहा ।
दक्खिणमदुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥

इससे भी पूज्यपादका समय वही छठी शताब्दिका प्रारंभ निश्चित होता है ।

प्रो० पाठकके प्रमाण ।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० काशीनाथ बापूजी पाठकने अपने शाकटायन व्याकरणसम्बन्धी लेखमें* कुछ प्रमाण ऐसे दिये हैं जिनसे ऐसा भास होता है कि जैनेन्द्रके

* इंडियन एजिटक्वैरी जिल्द १, पृष्ठ ३६३-६५ और एपिग्राफिका कर्नाटिका, जिल्द १ का पहला लेख ।
२ आर० नरसिंहाचार्य एम० ए० कृत ।

* देखो इंडियन एजिटक्वैरी जिल्द ४३, पृष्ठ २०५-१२ ।

समयका मानो अन्तिम निर्णय हो गया । इन प्रमाणोंको भी हम अपने पाठकोंके सम्मुख उपस्थित कर देना चाहते हैं; परन्तु साथ ही यह भी कह देना चाहते हैं कि ये प्रमाण जिस नीवपर खड़े किये गये हैं, उसमें कुछ भी दम नहीं है। जैसा कि हम पहले सिद्ध कर चुके हैं, जैनेन्द्रका असली सूत्रपाठ वही है जिसपर अभयनन्दिकी महावृत्ति रची गई है; परन्तु पाठक महोदयने जितने प्रमाण दिये हैं, वे सब शब्दार्णवचन्द्रिकाके सूत्रपाठको असली जैनेन्द्र-सूत्र मानकर दिये हैं; इस कारण वे तब तक ग्राह्य नहीं हो सकते जबतक कि पुष्ट प्रमाणोंसे यह सिद्ध नहीं कर दिया जाय कि शब्दार्णवचन्द्रिकाका पाठ ही ठीक है और इसके विरुद्धमें दिये हुए हमारे प्रमाणोंका पूरा, पूरा खण्डन न कर दिया जाय ।

१—जैनेन्द्रका* एक सूत्र है—‘हस्ता-देयेनुद्यस्तेये चेः’ [२-३-३६]। इस सूत्रके अनुसार ‘चि’ का ‘चाय’ हो जाता है, उस अवस्थामें जब कि हाथसे ग्रहण करने योग्य हो, उत् उपसर्गके बाद न हो और चोरी करके न लिया गया हो। जैसे ‘पुष्प प्रचायः’। हस्तादेय न होनेसे पुष्पप्रचय, उत् उपसर्ग होनेसे ‘पुष्पोच्चय’ और चोरी होने से ‘पुष्पप्रचय’ होता है†। इस सूत्रमें उत् उपसर्गके बाद जो ‘चाय’ होनेका निषेध किया गया है, वह पाणिनिमें,‡

* इन प्रमाणोंमें जहाँ जहाँ जैनेन्द्रका उल्लेख हो वहाँ वहाँ शब्दार्णव-चन्द्रिकाका सूत्रपाठ समझना चाहिए। सूत्रोंके नम्बर भी उसीके अनुसार दिये गये हैं।

† ‘हस्तादेये’ हस्तेनादानेऽनुदि वाचि चिञो षञ् भवत्यस्तेये। पुष्पप्रचायः। हस्तादेय इति किं ? पुष्पप्रचयं करोति तरुशिखरे। अनुदति किं ? फलोच्चयः। अस्तेय इति किं ? फलप्रचयं करोति चौर्येण (शब्दार्णव-चन्द्रिका पृष्ठ ५६)

‡ पाणिनिका सूत्र इस प्रकार है—‘हस्तादाने चेरस्तेये’ (३-३-४०)

उसके वार्तिकमें और भाष्यमें भी नहीं है। परन्तु पाणिनिकी काशिकावृत्तिमें ३-३-४० सूत्रके व्याख्यानमें है—‘उच्चयस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः।’ इससे सिद्ध होता है कि काशिकाके कर्त्ता वामन और जयादित्यने इसे जैनेन्द्रपरसे ही लिया है और जयादित्यकी मृत्यु वि० सं० ७१७ में हो चुकी थी ऐसा चीनी यात्री इत्सिंगने अपने यात्राविवरणमें लिखा है। अतः जैनेन्द्र-व्याकरण वि० सं० ७१७ से भी पहलेका बना हुआ होना चाहिए।

२—पाणिनि व्याकरणमें नीचे लिखा हुआ एक सूत्र है—

‘शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साप्रायणेषु।’

४-१-१०२

इसके स्थानमें जैनेन्द्रका सूत्र इस प्रकार है—

‘शरद्वच्छुनकदर्भाग्निशर्मकृष्णरणात् भृगुवत्साप्रायणवृषगणब्राह्मणवसिष्ठ।’ ३-१-१३४।

इसीका अनुकरणकारी सूत्र शाकटायनमें इस तरह का है—

‘शरद्वच्छुनकरणाग्निशर्मकृष्णदर्भाद् भृगुवत्सवसिष्ठवृषगणब्राह्मणाप्रायणे’ २-४-३६।

इस सूत्रकी अमोघवृत्तिमें

‘आग्निशर्मायणो वार्षगण्यः। आग्निशर्मिरन्यः। इस तरह व्याख्या की है।

इन सूत्रोंसे यह बात मालूम होती है कि पाणिनिमें ‘वार्षगण्य’ शब्द सिद्ध नहीं किया गया है जब कि जैनेन्द्रमें किया गया है। ‘वार्षगण्य’ सांख्य कारिकाके कर्त्ता ईश्वरकृष्णका दूसरा नाम है और सुप्रसिद्ध चीनी विद्वान् डा० टंकुसुके मतानुसार ईश्वरकृष्ण वि० सं० ५०७ के लगभग विद्यमान थे। इससे निश्चय हुआ कि जैनेन्द्रव्याकरण ईश्वरकृष्णके बाद— वि० सं० ५०७ के बाद और काशिकासे

पहले—वि० सं० ७१७ से पहले—किसी समय बना है ।

३—जैनेन्द्रका और एक सूत्र है— 'गुरुदयाद् भाद्युक्तेऽब्दे' (३-२-२५)। शाक-टायनने भी इसे अपना २-४-२२४ वाँ सूत्र बना लिया है। हेमचन्द्र ने थोड़ासा परिवर्तन करके 'उदितगुरोर्भाद्युक्तेऽब्दे' (६-२-२५) बनाया है। इस सूत्रमें द्वादशवर्षात्मक बार्हस्पत्य संवत्सरपद्धतिका उल्लेख किया गया है। यह पद्धति प्राचीन गुप्त और कदम्बवंशी राजाओंके समय तक प्रचलित थी, इसके कई प्रमाण पाये गये हैं। प्राचीन गुप्तोंके शक संवत् ३६७ से ४५० [वि० सं० ४५४ से ५२५] तक के पाँच ताम्रपत्र पाये गये हैं। उनमें चैत्रादि संवत्सरोंका उपयोग किया गया है और इन्हीं गुप्तोंके समकालीन कदम्बवंशी राजा मृगेशवर्माके ताम्रपत्रमें भी पौष संवत्सरका उल्लेख है। इससे मालूम होता है कि इस बृहस्पति संवत्सरका सबसे पहले उल्लेख करनेवाले जैनेन्द्रव्याकरणके कर्त्ता हैं और इसलिए जैनेन्द्रकी रचनाका समय

• इस संवत्सरकी उत्पत्ति बृहस्पतिकी गति परसे हुई है, इस कारण इसे बार्हस्पत्य संवत्सर कहते हैं। जिस समय यह मालूम हुआ कि नक्षत्रमण्डलमेंसे बृहस्पतिकी एक प्रदक्षिणा लगभग १२ वर्षमें होती है, उसी समय इस संवत्सरकी उत्पत्ति हुई होगी, ऐसा जान पड़ता है। जिस तरह सूर्यकी एक प्रदक्षिणाके कालको एक सौर वर्ष और उसके १२ वें भागको मास कहते हैं, उसी तरह इस पद्धतिमें गुरुके प्रदक्षिणा कालको एक गुरुवर्ष और उसके लगभग १२ वें भागको गुरुमास कहते थे। सूर्य-साक्षिण्यके कारण गुरु वर्षमें कुछ दिन अस्त रहकर जिस नक्षत्रमें उदय होता है, उसी नक्षत्रके नाम गुरुवर्षके मासोंके नाम रखे जाते थे। ये गुरुके मास वस्तुतः सौर वर्षोंके नाम हैं, इस कारण इन्हें चैत्र संवत्सर, वैशाख संवत्सर आदि कहते थे। इस पद्धतिको अच्छी तरह समझनेके लिए स्वर्गीय पं० शंकर बालकृष्ण दीक्षितका 'भारतीय ज्योतिःशास्त्राचा इतिहास' और डा० फ्लीटके 'गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स'में इन्हीं दीक्षित महाशयका अंगरेजी निबन्ध पढ़ना चाहिए।

ईसवी सनकी पाँचवीं शताब्दिके उत्तरार्ध (विक्रमकी छठी शताब्दीके पूर्वार्ध) के लगभग होना चाहिए। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि जैनेन्द्रकी रचना ईश्वरकृष्णके पहले अर्थात् वि० सं० ५०७ के पहले नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें वार्षगण्यका उल्लेख है।

पाठक महाशयने इन प्रमाणोंमें 'हस्ता-देयेनुद्यस्तेये चेः', 'शरद्वच्छुनकदभांश्रि-शर्मकृष्णारणात् भृगुवत्साप्रायणवृषगण-ब्राह्मणवसिष्ठे' और 'गुरुदयाद् भाद्युक्तेऽब्दे' सूत्र दिये हैं; परन्तु ये तीनों ही जैनेन्द्रके असली सूत्रपाठमें इन रूपोंमें नहीं हैं, अतएव इनसे जैनेन्द्रका समय किसी तरह भी निश्चित नहीं हो सकता है।

हाँ, यदि जैनेन्द्रकी कोई स्वयं देव-नन्दिकृत वृत्ति उपलब्ध हो जाय, जिसके कि होनेका हमने अनुमान किया है, और उसमें इन सूत्रोंके विषयको प्रतिपादन करनेवाले वार्तिक आदि मिल जायँ— मिल जानेकी संभावना भी बहुत है—तो अवश्य ही पाठक महाशयके ये प्रमाण बहुत ही उपयोगी सिद्ध होंगे।

पाठक महाशयके इन प्रमाणोंके ठीक न होने पर भी दर्शनसारके और मर्कराके ताम्रपत्रके प्रमाणसे यह बात लगभग निश्चित ही है कि जैनेन्द्र विक्रमकी छठी शताब्दीके प्रारंभकी रचना है।

जैनेन्द्रोक्त अन्य आचार्य ।

पाणिनि आदि वैयाकरणोंने जिस तरह अपनेसे पहलेके वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उसी तरह जैनेन्द्र-सूत्रोंमें भी नीचे लिखे आचार्योंका उल्लेख मिलता है :—

१—राद् भूतबलेः । ३-४-८३ ।

२—गुणे श्रीदत्तस्यस्त्रियाम् । १-४-३४ ।

३—कृष्णिमृजां यशोभद्रस्य । २-१-९९ ।

४-रात्रेः कृतिप्रभाषन्द्रस्य । ४-३-१८० ।

५-वेत्तेः सिद्धसेनस्य । ५-१-७ ।

६-चतुष्टयं समन्तभद्रस्य । ५-४-१४० ।

जहाँ तक हम जानते हैं, उक्त छहों आचार्य ग्रन्थकर्त्ता तो हो गये हैं, परन्तु उन्होंने कोई व्याकरण ग्रन्थ भी बनाये होंगे, ऐसा विश्वास नहीं होता। जान पड़ता है, पूर्वोक्त आचार्योंके ग्रन्थोंमें जो जुदा जुदा प्रकारके शब्दप्रयोग पाये जाते होंगे उन्हींको व्याकरणसिद्ध करनेके लिए ये सब सूत्र रचे गये हैं। इन आचार्योंमेंसे जिन जिनके ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनके शब्द-प्रयोगोंकी बारीकीके साथ जाँच करनेसे इस बातका निर्णय हो सकता है। आशा है कि जैन समाजके परिडितगण इस विषयमें परिश्रम करनेकी कृपा करेंगे।

१ भूतबलि । इनका परिचय इन्द्र-नन्दिकृत श्रुतावतार कथामें दिया गया है। भगवान् महावीरके निर्वाणके ६८३ वर्ष बाद तक अंगज्ञानकी प्रवृत्ति रही। इसके बाद विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त, और अर्हदत्त नामके चार आरातीय मुनि हुए जिन्हें अंग और पूर्वके अंशोंका ज्ञान था। इनके बाद अर्हद्वलि और माघनन्दि आचार्य हुए। इन्हें उन अंशोंका भी कुछ अंश ज्ञान था। इनके बाद धरसेन आचार्य हुए। इन्होंने भूतबलि और पुष्प-दन्त नामक दो मुनियोंको विधिपूर्वक अभ्ययन कराया और इन दोनोंने महा-कर्मप्रकृतिप्राभृत या षट्खण्ड नामक शास्त्र-की रचना की। यह ग्रन्थ* ३६ हजार श्लोक प्रमाण है। इसके प्रारम्भका कुछ भाग पुष्पदन्त आचार्यका और शेष भूत-बलिका बनाया हुआ है। वीरनिर्वाण संवत् ६८३ के बाद पूर्वोक्त सब आचार्य

क्रमसे हुए, या अक्रमसे, और उनके बीच-में कितना कितना समय लगा, यह जानने-का कोई भी साधन नहीं है। यदि हम इनके बीचका समय २५० वर्ष मान लें तो भूतबलिका समय वीरनिर्वाण संवत् ६३३ (शक* संवत् ३२८ वि० सं० ४६३) के लगभग निश्चित होता है। और इस हिसाबसे वे पूज्यपाद स्वामीसे कुछ ही पहले हुए हैं, ऐसा अनुमान होता है।

२ श्रीदत्त । विक्रमकी ६ वीं शताब्दि-के सुप्रसिद्ध लेखक विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें श्रीदत्तके 'जल्प-निर्णय' नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है:-

द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्व-प्रातिभगोचरम् ।

त्रिषष्टिर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥

इससे मालूम होता है कि ये ६३ वादियोंके जीतनेवाले बड़े भारी तार्किक थे। आदिपुराणके कर्ता जिनसेनसूरिने भी इनका स्मरण किया है और इन्हें वादिगजोंका प्रभेदन करनेके लिए सिंह-बतलाया है:-

श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपः श्रीदीतमूर्तये ।

कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने ॥४५॥

वीरनिर्वाण संवत् ६८३ के बाद जो ४ आरातीय मुनि हुए हैं, उनमें भी एक नाम श्रीदत्त है। उनका समय वीरनिर्वाण सं० ७०० (शक सं० ६५ वि० सं० २३०) के लगभग होता है। यह भी संभव है कि आरातीय श्रीदत्त दूसरे हों और जल्प निर्णयके कर्ता दूसरे। तथा इन्हीं दूसरेका उल्लेख जैनेन्द्रमें किया गया हो।

३ यशोभद्र । आदिपुराणमें संभवतः

* त्रैलोक्यसारके कर्ता 'नेमिचन्द्र' ने और हरिवंश-पुराणके कर्ताने वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष बाद शककाल माना है। उन्हींकी गणनाके अनुसार हमने यहाँ शक संवत् दिया है।

• संभवतः यह ग्रन्थ मूढविद्री (मंगलोर) के जैन-भयद्वारमें मौजूद है।

इन्हीं यशोभद्रका स्मरण करते हुए कहा है—

विदुष्विणीषु संसत्स् यस्य नामापि कीर्तितम् ।
निखर्ववति तद्वर्षे यशोभद्रः स पातु नः ॥४६॥

इनके विषयमें और कोई उल्लेख नहीं मिला और न यही मालूम हुआ कि इनके बनाये हुए कौन कौन ग्रन्थ हैं। आदिपुराणके उक्त श्लोकसे तो वे तार्किक ही जान पड़ते हैं।

४ प्रभाचन्द्र । आदिपुराणमें न्याय-कुमुन्दचन्द्रोदयके कर्ता जिन प्रभाचन्द्रका स्मरण किया है, उनसे ये पृथक् और पहलेके मालूम होते हैं। क्योंकि चन्द्रोदयके कर्ता अकलङ्कभट्टके समयमें हुए हैं, इसलिए उनका जिक्र जैनेन्द्रमें नहीं हो सकता। मालूम नहीं, ये प्रभाचन्द्र किस ग्रन्थके कर्ता हैं और कब हुए।

५ सिद्धसेन । ये सिद्धसेन दिवाकरके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये बड़े भारी तार्किक हुए हैं। स्वर्गीय डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषणका खयाल था कि विक्रमी सभाके 'क्षपणक' नामक रत्न यही थे। आदिपुराणमें इनका कवि और प्रवादिगज केसरी कहकर और हरिवंश पुराणमें सूक्तियोंका कर्ता कहकर स्मरण किया है। न्यायावतार, सम्प्रतितर्क, कल्याणमन्दिर-स्तोत्र और २० द्वात्रिंशिकायें (स्तुतियाँ) इनकी उपलब्ध हैं। यदि विक्रमका समय ईसाकी छठी शताब्दी माना जाय—जैसा कि प्रो० मोक्षमूलर आदिका मत है—तो सिद्धसेन इसी समयमें हुए हैं और लगभग यही समय जैनेन्द्रके बननेका है।

६ समन्तभद्र । दिगम्बर सम्प्रदायके ये बहुत ही प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। बीसों दिगम्बर ग्रन्थकारोंने इनका उल्लेख किया है। ये बड़े भारी तार्किक और कवि थे। इनका गृहस्थावस्थाका नाम वर्म था।

ये फणिमण्डल (?) के उरगपुर-नरेशके पुत्र थे। इनके बनाये हुए देवागम (आत्म-मीमांसा), युक्त्यनुशासन, बृहत्स्वयंभू-स्तोत्र, जिन-शतक और रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ये ग्रन्थ छप चुके हैं। हरिवंशपुराणमें इनके एक 'जीवसिद्धि' नामक ग्रन्थका उल्लेख मिलता है। षट्खण्डसूत्रोंके पहले पाँच खण्डों पर भी इनकी बनाई हुई ४८ हज़ार श्लोक प्रमाण संस्कृत टीकाका उल्लेख मिला है। आवश्यकसूत्रकी मलयगिरिकृत टीकामें 'आद्यस्तितिकारोऽप्याह' कहकर इनके स्वयंभू स्तोत्रका एक पद्य उद्धृत किया है। इससे मालूम होता है कि ये सिद्धसेनसे भी पहलेके ग्रन्थकर्ता हैं। क्योंकि सिद्धसेन भी स्तुतिकारके नामसे प्रसिद्ध हैं। अभी तक इन दोनों ही आचार्योंका समय निर्णीत नहीं हुआ है।

पूज्यपादके अन्य ग्रन्थ ।

जैनेन्द्रके सिवाय पूज्यपादस्वामीके बनाये हुए अबतक केवल तीन ही ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं और ये तीनों ही छप चुके हैं:—

१—सर्वार्थसिद्धि । दिगम्बर सम्प्रदायमें आचार्य उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्रकी यह सबसे पहली टीका है। अन्य सब टीकायें इसके बादकी हैं और वे सब इसको आगे रखकर लिखी गई हैं।

२—समाधितंत्र । इसमें लगभग १०० श्लोक हैं, इसलिए इसे समाधिशतक भी कहते हैं। यह अध्यात्मका बहुत ही गम्भीर और तार्किक ग्रन्थ है। इस पर कई संस्कृत टीकायें लिखी गई हैं।

३—इष्टोपदेश । यह केवल ५१ श्लोक प्रमाण छोटासा ग्रन्थ है और सुन्दर उपदेशपूर्ण है। पं० आशाधरने इस पर एक संस्कृत निबन्ध लिखा है।

इनके सिवाय कहा जाता है कि इनके बनाये हुए और भी कई ग्रन्थ हैं। सर्वार्थ-सिद्धिकी भूमिकामें श्रीयुत पं० कलापा निटवेने लिखा है कि चिकित्साशास्त्र पर भी पूज्यपादस्वामीके दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिनमेंसे एकमें चिकित्साका और दूसरेमें औषधों तथा धान्योंका गुणनिरूपण है। परन्तु परिचित श्रीमहाशयने न तो उक्त ग्रन्थोंका नाम ही लिखा है और न यही लिखनेकी कृपा की है कि वे कहाँ उपलब्ध हैं। शुभचन्द्राचार्यकृत ज्ञानार्णवके नीचे लिखे श्लोकके 'काय' शब्दसे भी यह बात ध्वनित होती है कि पूज्यपाद-स्वामीका कोई चिकित्सा ग्रन्थ है :—

अपाकुर्वन्ति यद्राचः कायवाक्चित्तसंभवम् ।
कलङ्कमङ्गिनां सोयं देवनन्दी नमस्यते ॥

पूनेके भाण्डारकर रिसर्चइन्सटिट्यूट-में 'पूज्यपादकृत वैद्यक' नामका एक ग्रन्थ है*। यह आधुनिक कनडीमें लिखा हुआ कनडी भाषाका ग्रन्थ है। पर इसमें न तो कहीं पूज्यपादका उल्लेख है और न यही मालूम होता है कि यह उनका बनाया हुआ होगा।

विजयनगरके हरिहर राजाके समयमें मंगराज नामका एक कनडी कवि हुआ है। वि० सं० १४१६ के लगभग उसका अस्तित्व काल है। स्थावर विषोंकी प्रक्रिया और चिकित्सापर उसने खगेन्द्र-मण्दिर्पण नामका एक ग्रन्थ लिखा है। इसमें वह अपने आपको पूज्यपादका शिष्य बतलाता है और यह भी लिखता है कि यह ग्रन्थ पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थसे संगृहीत है। इससे मालूम होता है कि पूज्यपाद नामके एक विद्वान् विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिमें भी हो गये हैं और लोग भ्रमवश उन्हींके वैद्यक ग्रन्थको जैनेन्द्रके

कर्ताका ही बनाया हुआ समझकर उल्लेख कर दिया करते हैं।

वृत्तविलास कविकी कनडी धर्म-परीक्षाका जो पद्य पहले उद्धृत किया जा चुका है उसमें दो ग्रन्थोंका और भी उल्लेख है, एक पाणिनिव्याकरणकी टीकाका और दूसरे यन्त्रमन्त्रविषयक शास्त्रका। पूज्यपाद द्वारा पाणिनिकी टीकाका लिखा जाना असम्भव नहीं है; परन्तु साथ ही वृत्तविलासको पूज्यपादके 'जिनेन्द्रबुद्धि' नामसे भी यह भ्रम हो गया हो तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि पाणिनिकी काशिका वृत्तिपर जो न्यास है उसके कर्ताका भी नाम 'जिनेन्द्रबुद्धि' है। इस नामसाम्यसे यह समझ लिया जा सकता है कि पूज्यपादने भी पाणिनिकी टीका लिखी है। न्यासकार 'जिनेन्द्रबुद्धि' वास्तवमें बौद्धभिन्नु थे और वे अपने नामके साथ 'श्रीबोधिसत्त्वदेशीयाचार्य' यह बौद्ध पदवी लगाते हैं। पूज्यपादके कनडी चरित्र-लेखकने लिखा है कि पाणिनि पूज्यपादके मामा थे और पाणिनिके अधूरे ग्रन्थको उन्होंने ही पूर्ण किया था; परन्तु इस समय ऐसी बातोंपर विश्वास नहीं किया जा सकता।

'जैनाभिषेक' नामक एक और ग्रन्थका जिकर 'जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं' आदि श्लोकमें किया गया है। यह श्लोक ऊपर पृष्ठ ६५ में दिया जा चुका है। जहाँ तक हमारा खयाल है, जैनाभिषेक और यन्त्रमन्त्रविषयक ग्रन्थ भी अन्य किसी पूज्यपादके बनाये हुए होंगे और भ्रमसे इनके समझ लिये गये होंगे।

कनडी पूज्यपादचरितमें पूज्यपादके बनाये हुए अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण और शान्त्यष्टक नामक स्तोत्रका भी जिकर है।

—अपूर्ण।

* नं० १०६६, सन् १८८७-९१ की रिपोर्ट।

सेठ लालचन्दजी सेठीके भाषणका कुछ सारभाग ।

दिगम्बर जैन खंडेलवाल महासभाके जिस प्रथमाधिवेशनका शोर असेंसे समाचारपत्रोंमें सुनाई पड़ता था, वह कलकत्तेमें ता० २७, २८, २९, ३० नवम्बर और १ली दिसम्बरको हो गया। अधिवेशनमें प्रतिनिधियोंकी संख्या बहुत कम थी। जब पं० धन्नालालजीने यह देखा कि प्रतिनिधियोंकी संख्या बहुत कम है अर्थात् ऐसे लोग बहुत थोड़े हैं जो अपने अपने नगर ग्रामोंकी पंचायतों तथा सभा सोसायटियोंकी तरफसे बाजाब्ता कायम मुकाम (Representatives) बनकर और उनकी ओरसे सम्मति प्रकाशित करने आदिका अधिकार लेकर आये हों तब उन्होंने उपस्थित खंडेलवालोंको सभाका संभासद प्रकट कर दिया और इस तरह पर उक्त महासभाको अपना अधिवेशन सार्थक करनेका अवसर प्राप्त हुआ। अधिवेशनके सभापति थे श्रीमान् सेठ लालचन्दजी सेठी, जो कि झालरापाटनके सुप्रसिद्ध सेठ विनोदीराम बालचन्दजीकी फर्मके मालिक हैं। आपने जलसेमें, सभापतिकी हैसियतसे जो भाषण दिया उसकी एक छुपी हुई कापी हमें कल संध्या समय प्राप्त हुई। देखनेसे मालूम हुआ, भाषण अच्छा है और उसमें बहुत कुछ समयोपयोगी तथा कामकी बातें कही गई हैं। इस भाषणका कुछ सारभाग, अपने पाठकोंके अवलोकनार्थ और सेठ साहबके विचारोंके परिचयार्थ नीचे प्रकट किया जाता है :—

सभाओंके मुख्य कर्त्तव्यका उल्लेख करते हुए सेठजीने कहा—“कोई भी सभा हो, उसका फर्ज होगा कि देशकी उन्नतिमें सहायक होती हुई वह नैतिक, धार्मिक,

सामाजिक, व्यापारिक और विविध कला-कौशलकी विद्यासे हरेक जातीय भाईको तैयार करे, समाजका बच्चा बच्चा भी पढ़ा-लिखा हो और अविद्यारूपी अन्धकारको अपने निर्मल ज्ञानके प्रकाशसे विध्वंस कर दे। उपाय ऐसे किये जावें कि जातिका कोई बच्चा भूखा न सोने पावे, क्योंकि भूखकी ज्वालासे लोगोंको अनेक अनर्थ करनेमें प्रवृत्त होना पड़ता है। बोलशेविज्म आदि भी इसीका परिणाम है। ऐसा करके भाइयो ! यह लोक परलोक सुधारना होगा, ज़मानेकी रफ़ारका अवश्य विचार करना होगा और कोई भी बातका निश्चय द्रव्य, क्षेत्र, काल भावका विचार कर करना होगा। अगर सफलताके लिये ऐसा न किया, अगर यह लोक भी नहीं सुधारा और मनुष्यताके तौर पर न जिये तो परलोक सुधारना सपनेकी बात होगी।”

जातिकी दशाको सुधारनेकी प्रेरणा करते हुए आपने कहा—‘ऐसी कोई चीज़ दुनियाकी नहीं, जो मिल न सके। मगर ज़रूरत है परिश्रम, दृढ़ संकल्प, संगठन और नियमसे काम करने की। जब आप कहते हैं कि कलिकालका प्रभाव है, तो इसके यह भी माने हो सकते हैं कि उस वक्त धर्ममें जो शक्ति थी वह अब नहीं रही। मगर याद रखिये कि हम अपनी कायरताको ज़बरदस्ती धर्म पर डालना चाहते हैं। हम दृढ़ संकल्पके साथ पुरुषार्थ करके देखें, तो मालूम हो जायगा कि कलिकालका प्रभाव हमें उन्नति करनेसे नहीं रोक सकता। क्योंकि कहा है—

‘सदयं हृदयं यस्य भाषितं सत्यं भूषितम् ।

काये सत्वहितो पाये कलिः कुर्वीततस्य किम्? ॥*

* जिसका हृदय दयासे पूर्ण, वचन सत्यसे भूषित और शरीर जीवोंके हितसाधनमें लगा हुआ है उसका कलिकाल क्या कर सकता है ?

जैनसाहित्यके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट करते हुए आपने कहा—

“साहित्यके बिना कोई भी जाति, कोई भी देश और कोई भी ज्ञान कायम नहीं रह सकता । हमारे जैन साहित्यकी दशा साहित्य-रसिक सज्जनोंसे छिपी नहीं है । हाय ! हमारे साहित्यका लोप होते होते यहाँ तक हो गया कि हमारे पुनीत पावन शास्त्र बरसों तक भण्डारोंमें बन्द रखे जाने लगे । चाहे उनको चूहे खायँ, दीमक खायँ, मगर भण्डारोंके ताले खोलना भी कठिन हो गया । हमारे शास्त्र इस तरह मिट्टीमें मिलें, बरबाद हों, लय हों और हम उनकी तरफ नज़र भी नहीं डालें, हमारे लिये यह कितने अफ़सोस और शर्मकी बात है ! कहते कल्लेजा काँपता है कि इस बुरे ढङ्गसे हजारों शास्त्रोंका नाश हो गया । और अगर यही हालत रही तो जमाना बतावेगा कि जैनियोंका कोई अस्तित्व ही नहीं है । फिर भी अगर अभी तक इस विषय पर समाजका ध्यान थोड़ा बहुत नहीं जाता, तो जैन-साहित्यका अन्त बहुत जल्दी आ जाता । मगर खुशीकी बात है कि अब कई जगह शास्त्रोंके भण्डार खुल गये हैं, उनको चूहों और दीमकोंसे बचाकर बाहर लाया गया है और यों जैन-साहित्यकी थोड़ी बहुत रक्षा की गई है । मगर फिर भी कई जगहें पेसी सुननेमें आती हैं कि जहाँके भण्डारोंमें बहुतसे शास्त्र वर्षोंसे भरे पड़े हैं और जिनको हमारे जैनी भाई ताला खोलकर सँभालने तक नहीं देते । अफ़सोस और सख्त अफ़सोस ! क्या शास्त्रका विनय इसीका नाम है ?.....

—अपूर्ण ।

पुस्तक-परिचय ।

१ आत्मसिद्धि—यह मूल पुस्तक गुजराती भाषामें सरल और सुबोध पद्यों द्वारा शतावधानी महात्मा भीमदू राजचन्द्रजी जैनकी बनाई हुई है । इसका विषय पुस्तकके नामसे ही प्रकट है । परिचित बेहचरदासजी न्याय और व्याकरणतीर्थने संस्कृतमें इसका पद्यानुवाद और हिन्दीमें पं० उदयलालजी काशलीवालने गद्यानुवाद किया है । ये दोनों अनुवाद पुस्तक के साथ लगे हुए हैं । साथ ही, मूल कर्ताके हिन्दी परिचय द्वारा, जो कि १२३ पृष्ठ परिमाण है, इस पुस्तकको अलंकृत किया गया और उपयोगी बनाया गया है । सब मिलाकर पुस्तककी पृष्ठ-संख्या सवा दो सौके करीब है, मोटे पुष्ट कागज़पर निर्णयसागर प्रेस द्वारा छपाई हुई है, सुवर्ण-क्षरोंको लिये हुए सुन्दर कपड़ेकी जिल्द बँधी है और तिसपर भी मूल्य एक रुपया है । ग्रन्थकर्ताके छोटे भाई श्रीयुत मनसुखलाल रवजी भाई मेहताने *महात्मा गांधीजीकी प्रेरणासे इसे लोकोपकारार्थ देवनागरी अक्षरोंमें प्रकाशित किया है ।

यह पुस्तक बड़े कामकी है और इसमें ग्रन्थकर्ताका परिचय खास तौरसे पढ़ने योग्य है । उसके पढ़नेसे अनेक बातोंकी शिनायत मिलती है और बहुत कुछ अनुभव बढ़ता है । परिचयमें श्रीमदू राजचन्द्रजीके जीवनके अनेक पत्रोंका भी संग्रह किया गया है और उसमें वे पत्र भी शामिल हैं जो महात्मा गांधीजीके पत्रोंके उत्तरमें उन्हें नैटाल (अफ्रीका) भेजे गये थे । गांधीजीके जीवनपर श्रीमदू राजचन्द्रजीका गहरा प्रभाव पड़ा है, जिसे

* आपका पता 'सैंटहर्स्ट' रोड, मिरगाँव—बम्बई है ।

उन्होंने अनेक बार स्वमुखसे उद्धोषित किया है। अहमदाबादमें, 'राजचन्द्र जयन्ती' के समय पर सभापतिकी हैसियतसे महात्मा गांधीने श्रीमद्राजचन्द्र और उनकी कृतियोंके सम्बन्धमें जो उद्गार निकाले थे उन्हें इस पुस्तकसे, हम अपने पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत करते हैं:—

'मेरे जीवनपर श्रीमद् राजचन्द्र भाईका ऐसा स्थायी प्रभाव पड़ा कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। उनके विषयमें मेरे गहरे विचार हैं। मैं कितने ही वर्षोंसे भारतमें धार्मिक पुरुषकी खोजमें हूँ; परन्तु मैंने ऐसा धार्मिक पुरुष भारतमें अबतक नहीं देखा जो श्रीमद् राजचन्द्र भाई के साथ प्रतिस्पर्द्धामें खड़ा हो सके। उनमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति थी; ढोंग, पक्षपात या राग-द्वेष न थे। उनमें एक ऐसी महती शक्ति थी कि जिसके द्वारा वे प्राप्त हुए प्रसंगका पूर्ण लाभ उठा सकते थे। उनके लेख अंगरेज तत्वज्ञानियोंकी अपेक्षा भी विचक्षण, भावनामय और आत्मदर्शी हैं। मैं योरपके तत्त्वज्ञानियोंमें टालस्टायकी पहली श्रेणीका और रस्किनको दूसरी श्रेणीका विद्वान् समझता हूँ; पर श्रीमद् राजचन्द्र भाईका अनुभव इन दोनोंसे भी बढ़ा चढ़ा था। इन महापुरुषके जीवनके लेखोंको आप अवकाशके समय पढ़ेंगे तो आपपर उनका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा। वे प्रायः कहा करते थे कि मैं किसी बाड़ेका नहीं हूँ; और न किसी बाड़ेमें रहना ही चाहता हूँ। ये सब तो उपधर्म—मर्यादित हैं और धर्म तो असीम है जिसकी व्याख्या ही नहीं हो सकती। वे अपने जवाहिरातके धन्धेसे विरक्त होते कि तुरन्त पुस्तक हाथमें लेते। यदि उनकी इच्छा होती तो उनमें ऐसी शक्ति थी कि वे एक अच्छे प्रतिभाशाली बैरिस्टर,

जज या वाइसराय हो सकते। यह अतिशयोक्ति नहीं, किन्तु मेरे मन पर उनकी छाप है। इनकी विचक्षणता दूसरे पर अपनी छाप लगा देती थी।'

महात्माजीके इन उद्गारोंसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि श्रीमद् राजचन्द्रजी कितने असाधारण धार्मिक पुरुष थे, उनका अनुभव कितना बढ़ा चढ़ा था और इसलिये उनकी वृत्तियाँ कितनी अधिक उत्तम तथा मनन किये जानेके योग्य हैं। इन उद्गारोंके मौजूद होते हुए हमें इस पुस्तकका कुछ विशेष परिचय देनेकी ज़रूरत नहीं है। हाँ इतना ज़रूर कहना होगा कि हमें इस पुस्तकके पढ़नेसे बहुत कुछ संतोष और शांति-लाभ हुआ है; और इसलिये हमारा अनुरोध है कि प्रत्येक स्त्रीपुरुषको इसे ज़रूर पढ़ना चाहिये। यह पुस्तक सभी लायब्रेरियों और पुस्तकालयोंमें संग्रह किये जानेके योग्य है। इस पुस्तकसे यह भी मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ताकी कुछ दूसरी वृत्तियाँ भी (जैसे कि 'श्रीमद्राजचन्द्र' नामका ग्रन्थ) गुजरातीमें प्रकाशित हुई हैं परन्तु अभी तक हमें उनके देखनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। यह पुस्तक हमें आराके कुमार देवेंद्रप्रसादजीसे प्राप्त हुई थी, जिसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

२ निबन्धरत्नमाला—लेखिका श्रीमती परिडता चन्दावाई, आरा। प्रकाशक कुमार देवेन्द्रप्रसादजी, प्रेममन्दिर, आरा। पृष्ठसंख्या १२५ से ऊपर। मूल्य आठ आना। 'कन्याविद्यावलम्बिनी पुस्तकमाला' की यह तृतीय पुस्तक है। इससे पहले सौभाग्यरत्नमाला और उपदेशरत्नमाला नामकी दो पुस्तकें और भी उक्त लेखिकाकी लिखी हुई प्रकाशित हो चुकी हैं। इस पुस्तकमें १ मानव हृदय, २ पावत्रता, ३ सद्विज्ञान, ४ सद्व्यवहार,

५ आत्मपदार्थ, ६ स्वावलम्बन, ७ आत्म-गुण, ८ धनदशादर्शन, ९ स्वदेशसेवा, १० स्त्रियोंमें उच्चविद्या, ११ मनुष्य-जन्मकी दुर्लभता और ज्ञानकी योग्यता, १२ समयकी उपयोगिता, १३ शिक्षा, १४ प्राचीन आदर्श महिलाएँ, १५ स्त्री समाजमें समाचारपत्रोंकी आवश्यकता और १६ कन्या-महाविद्यालय नामके सोलह निबन्ध हैं*। यद्यपि सभी निबन्ध अच्छे, प्रौढ़ और उच्च विचारोंसे भरे हुए हैं तो भी उनमें मानव हृदय, स्वदेश-सेवा और आत्म-सम्बन्धी कुछ निबन्ध ऐसे हैं जो ख़ास तौरसे पढ़े जाने योग्य हैं; और इन निबन्धोंसे स्त्रीजाति ही नहीं बल्कि पुरुष भी बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। पुस्तककी भाषा शुद्ध, परिमार्जित और लेखन-शैली अभिनन्दनीय है। साथ ही प्रकाशक महाशयने इसे बढ़िया कागज पर, उत्तम टाइपमें और अच्छे ढङ्गसे छपवा-बंधवाकर इसकी शोभाको और भी ज्यादा बढ़ा दिया है। हमें इस पुस्तकको देखकर बहुत प्रसन्नता हुई। एक स्त्रीकी कलमसे हिन्दीमें ऐसी अच्छी पुस्तकका लिखा जाना, निःसन्देह जैनसमाजके लिये बड़े गौरवकी बात है। हमारे खयालमें यदि श्रीमतीका यह प्रयत्न बराबर जारी रहा तो इसके द्वारा वे जैन-स्त्रीसमाजका मुख ही उज्वल नहीं कर सकेंगी, बल्कि देश और समाजके उत्थानमें बहुत कुछ सहायक भी बन सकेंगी; और हिन्दी संसार आपकी कृतियोंसे उपकृत होगा। पुस्तक सबके पढ़ने और संग्रह किये जानेके योग्य है। मूल्य लागत मात्र अथवा लागतसे भी कुछ कम जान पड़ता है; सम्भव

* इनके सिवाय, प्रकाशक द्वारा, एक लेख महात्मा गांधीका 'नवजीवन' से अनुवाद रूप उद्धृत किया गया है और एक कविता गिरीशके 'रसाल वन' से उठाकर रखी गई है।

है कि प्रचारकी गरजसे ऐसा किया गया हो, और इसलिए, प्रकाशकका यह उत्साह और भी प्रशंसनीय है।

३ भारतके प्राचीन राजवंश- (प्रथम भाग) —लेखक, साहित्याचार्य परिडित विश्वेश्वरनाथ रेड, सुपरिण्टेण्डेंट 'सरदार म्यूजियम' और 'सुमेर पब्लिक लायब्रेरी' जोधपुर। प्रकाशक, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, गिरगाँव-बम्बई। पृष्ठसंख्या, नकशों तथा वंशवृक्षोंसे अलग, ३६० मूल्य, कपड़ेकी जिल्द सहित तीन रुपये।

यह पुस्तक अभी हालमें प्रकाशित हुई है और अपने ढङ्गकी पहली पुस्तक है। इसमें संस्कृत पुस्तकों, शिलालेखों, ताम्र-पत्रों, सिक्कों, ख्यातों और फारसी तवारीखों आदिके आधार पर १ क्षत्रप, २ हैहय, ३ परमार, ४ पाल, ५ सेन और ६ चौहान इन छः वंशोंके राजाओं तथा इनसे कुछ सम्बन्ध रखनेवाले कुछ दूसरे राजाओं और इतर विद्वानों आदिका संक्षिप्त इतिहास तथा परिचय दिया है। इस तरह यह पुस्तक सैंकड़ों ऐतिहासिक व्यक्तियोंके संक्षिप्त परिचय और बहुत सी पुरानी घटनाओंके उल्लेखको लिये हुए है। अनेक नकशों, वंशवृक्षों और फुटनोटोंके द्वारा इसे उपयोगी बनाया गया है। इसमें लिखी मुंशी देवीप्रसादजी, सहकारी अध्यक्ष 'इतिहास कार्यालय' जोधपुरकी लिखी हुई २६ पेजकी भूमिका भी बहुत कुछ उपयोगी है। इसमें सन्देह नहीं कि, पुस्तक बड़े परिश्रम और खोजके साथ लिखी गई है और उसमें बहुतसे देशी-विदेशी ग्रन्थोंका सार खींचा गया है। ऐसी एक पुस्तककी हिन्दी संसारको बड़ी ज़रूरत थी। इसके लिए लेखक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक इतिहासप्रेमी और पुरानी बातोंके जानने-

के इच्छुकों द्वारा यह पुस्तक अवश्य पढ़े और संग्रह किये जानेके योग्य है। हर एक लायब्रेरी और पुस्तकालयमें इसकी एक-एक प्रति रहनी चाहिए।

अन्तमें हम यह भी प्रगट कर देना उचित समझते हैं कि, यद्यपि पुस्तकको बहुत कुछ उपयोगी बनानेका यत्न किया गया है तो भी उसमें एक खास चुटि रह गई है, और वह जनरल इण्डेक्स (General Index) का अभाव है। अर्थात्, पुस्तकमें ऐसी कोई साधारण अनुक्रमणिका नहीं लगाई गई जिसमें पुस्तकभरमें आये हुए सब प्रकारके नामोंको अकारादि क्रमसे, पृष्ठसंख्या के साथ, दर्ज किया होता। इस प्रकारकी पुस्तकोंमें ऐसी एक अनुक्रमणिकाकी बहुत बड़ी ज़रूरत होती है; और उससे अनुसन्धान करनेवालों तथा पुस्तकसे कुछ काम लेनेवालोंकी बहुत कुछ लाभ पहुँचता है और उनका अधिकांश समय बच जाता है। ऐसी अनुक्रमणिकाके न होनेकी हालतमें कभी कभी पुस्तकमें कोई कामकी बात होते हुए भी वह काम नहीं आती। आशा है कि पुस्तकका दूसरा संस्करण निकालते समय और इसके दूसरे भागोंको प्रकाशित करते वक्त भी इस विषयकी ओर खास तौर से ध्यान रक्खा जायगा और पुस्तकको और भी ज्यादा उपयोगी बनानेका यत्न किया जायगा।

सम्पादकीय वक्तव्य ।

इस अंकसे जैनहितैषीका नया वर्ष आरम्भ होता है—अर्थात्, हितैषी अपने जीवनके १४ वें वर्षको पारकर अब सहर्ष १५ वें वर्षमें प्रवेश करता है। पिछले साल इस पत्रने अपने पाठकोंकी क्या कुछ सेवा की, यह बतलानेकी ज़रूरत नहीं है; सहृदय पाठक उससे स्वयं परिचित हैं। हाँ, इतना ज़रूर कहना होगा कि गत वर्ष बीमारी, अस्वस्थता और प्रेसकी गड़बड़ आदि कई कारणोंसे हम हितैषीके अनेक अंकोंको समय पर नहीं निकाल सके और इससे पाठकोंको कुछ प्रतीक्षाजन्य कष्ट ज़रूर उठाना पड़ा है, जिसके लिये हमें स्वयं खेद है; तो भी इस बात पर खास ध्यान रक्खा गया है कि पाठकोंको वैसे कुछ अलाभ न होने पावे—मैटरकी दृष्टिसे वे घाटेमें न रहें—और इसलिये हितैषीका मैटर बराबर उसी ढङ्गसे पूरा किया जाता रहा है। वास्तवमें, जैनहितैषी कोई समाचारोंका पत्र भी नहीं है जिसके समयपर न निकलनेसे उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाय, बल्कि यह एक प्रकारका निबन्धसंग्रह है जिसके अधिकांश लेखोंको, एक उपयोगी पुस्तकके तौर पर, बार बार पढ़ने, मनन करने और पास रखनेकी ज़रूरत होती है। गत वर्ष कागज़ और छपाईकी कितनी मँहगई रही, और जो अभी तक जारी है, इससे सभी परिचित हैं। अनेक पत्र इसी चक्रमें पड़कर बन्द हो गये और बहुतोंको अपना मूल्य बढ़ाना तथा आकारादि परिवर्तन करना पड़ा। महात्मा गांधीके 'नवजीवन' जैसे पत्रोंकी भी—जिनकी बहुत कुछ ग्राहक-संख्या है और जिन्हें हज़ार हज़ार रुपये तककी सहायता भी इसलिये प्राप्त है कि वे कुछ लोगोंको

बिना मूल्य दिये जायँ—प्रायः ऐसी ही दशा हुई। महात्मजोंको वर्षके बीचमें ही अपने पत्रका मूल्य बढ़ाना पड़ा और जब उससे भी काम न चला—घाटा होता देखा—तो पत्रकी पृष्ठसंख्या भी कम करनी पड़ी। परन्तु जैनहितैषीने, जिसकी ग्राहक संख्या अल्प है, जिसे बाहरसे भी किसीकी कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त नहीं है और जिसकी छपाईका चार्ज, दो एक अंकोंके बादसे ही, १६ रुपयेके स्थानमें २२ रुपये हो गया था—वर्ष के बीचमें ही, अपना मूल्य बढ़ाना उचित नहीं समझा और न अपने नियत फार्मोंकी संख्या—अर्थात् पृष्ठ संख्याको ही कम किया। इतने पर भी समाजने इस पत्रके साथ जो सलूक किया है उसे देखकर दुःख होता है। बहुतसे ग्राहक पाँच पाँच महीने तक बराबर खुशीसे जैनहितैषी लेते रहे और जब छठा अंक उनके पास वी. पी. द्वारा भेजा गया तो उन्होंने वापस कर दिया; और इतनी भी प्रामाणिकता नहीं दिखलाई कि पाँच पाँच अंकोंकी बाबत मूल्यके पन्द्रह पन्द्रह आने ही भेज दिये जायँ। हम नहीं चाहते कि ऐसे भाइयोंके नामोंको प्रकट करके समाजमें उन्हें और भी ज्यादा लज्जित किया जाय—उनकी परिणति उनके अधीन है और हमारी चित्तवृत्ति हमारे अधीन—तो भी इतना ज़रूर बतलाना होगा कि ऐसे लोगोंकी इस रूपसे जैनहितैषीको गतवर्ष ६००) रुपयेके करीब घाटा रहा है; जैसा कि पिछले अंकमें प्रकाशक महोदयने ज़ाहिर किया था। इतनी महती हानि उठाकर भी जैनहितैषी इस वर्ष उसी उत्साहके साथ अपने पाठकोंकी सेवामें उपस्थित हो रहा है, यह सब प्रकाशक महोदयकी उदारता, और समाजमें ऊँचे साहित्य तथा सच्चिचारोंको फैलानेकी सत्कामना-

का नतीजा है। वास्तवमें जैनहितैषी, किसी स्वार्थबुद्धिसे प्रेरित होकर, निजी लाभके लिये नहीं निकाला जाता। इसमें, संपादक और प्रकाशक दोनोंकी ओरसे, जो कुछ शक्ति और समयका व्यय किया जाता है वह सब समाजहितके लिये है—समाजमें ऊँचे विचारोंका प्रचार करके उसे सन्मार्गकी ओर लगानेकी गरज़से है। देखते हैं, समाज कबतक चेतता और अपने हितैषीको पहचानता है। हमारे एक मित्रका यह अनुभव, यद्यपि ठीक है कि जैनियोंमें अच्छे साहित्यको पढ़नेवाले नहीं हैं—उनका प्रायः अभाव है—तो भी अच्छे साहित्यके पढ़नेवालोंको पैदा करनेके लिये उपाय भी यही है कि हानि उठाकर भी, उनमें अच्छे साहित्यका प्रचार किया जाय। और इसी लिये जैन हितैषीका यह सब प्रयत्न है—वह अपनी शक्तिभर आर्थिक हानि उठाकर भी फिरसे सेवाके लिये तय्यार हुआ है और जबतक शक्ति बनी रहेगी तबतक बराबर सेवा करता रहेगा। परन्तु उस शक्तिको बनाये रखना अधिक—क्षीण न होने देना—यह सब पाठकोंके अधीन है। और इसलिए जो लोग जैनहितैषीसे प्रेम रखते हैं उन्हें उसके प्रचार का यत्न करना चाहिए; खासकर ऐसे समयमें जब कि कुछ उलूक प्रकृतिके अन्धकारप्रिय मनुष्योंकी निर्बल और विकृत दृष्टिमें हितैषीका सुमधुर और हितकर तेज भी नहीं समाता और इसलिए वे उसके अस्तकी भावना कर रहे हैं। ऐसे समयमें जैनहितैषीके शुभचिन्तकोंका भी कुछ कर्तव्य ज़रूर होना चाहिए।

पिछले सालके शुरूमें हमने अपने पाठकोंसे यह प्रार्थना की थी कि वे इस बातकी पूरी कोशिश रखें कि जैनहितैषीके विचार यथावत् रूपसे, सब भाइयोंके

कानों तक बराबर पहुँचते रहें और उन्हें पढ़नेको मिलाते रहें । परन्तु जान पड़ता है, इस बार कुछ ध्यान नहीं दिया गया । अतः हम अपने पाठकोंका ध्यान फिरसे इस ओर आकर्षित करते हैं । आशा है, वे ज़रूर इस बार ध्यान देंगे और उसे कार्यमें परिणत करनेका भरसक यत्न करेंगे । जैनहितैषीको अपने ग्राहकोंके बढ़ानेकी इतनी चिन्ता नहीं है जितनी चिन्ता अपने विचारोंको फैलाकर सच्चिचारकोंके उत्पन्न करनेकी है । और इसलिए, जो लोग स्थानीय सभा सोसाइटियोंमें जैनहितैषीको पढ़कर सुनावें, दूसरोंको उसके पढ़नेकी प्रेरणा करें, उन्हें अपना अंक पढ़नेके लिए दें, जैन-हितैषीके सम्बन्धमें अपने सद्भाव प्रगट करें, अपने इष्ट मित्रादिकोंको उसका परिचय करावें, असमर्थोंके पास उसे अपनी ओरसे बिना मूल्य भिजवाएँ और इसी तरह उसके ख़ास ख़ास लेखों तथा विचारोंको अलग पुस्तकाकार छपवाकर उन्हें बिना मूल्य या अल्प मूल्यमें वित-

रण करें और कराएँ, वे सब जैनहितैषीके विचारोंको फैलानेमें सहायक हो सकते हैं और समाजमें बहुत कुछ जाग्रति उत्पन्न कर सकते हैं । इस वर्ष हितैषीमें जैनतत्त्वोंके प्रतिपादक और जैनसिद्धान्तोंके रहस्यका उद्घाटन करनेवाले कुछ दूसरे महत्त्वके लेख भी निकालनेका हमारा विचार है; और उसका प्रारम्भ इसी अंकसे, 'उपासना-तत्त्व' नामके लेख द्वारा किया गया है । आशा है, इन लेखोंसे जैन-अजैन सभीको यथार्थ वस्तुस्थितिके समझनेमें बहुत कुछ सहायता मिलेगी ।

अन्तमें हम अपने सहृदय पाठकोंसे इतना और निवेदन कर देना ज़रूरी समझते हैं कि पिछले साल जैनहितैषीके सम्पादन-कार्यमें उन्हें जो जो मुट्टियाँ मालूम हुई हों अथवा जिन जिन गुण-दोषोंका अनुभव हुआ हो उन सबको वे कृपाकर हमारे पास शीघ्र लिख भेजनेका कष्ट उठाएँ, जिससे हम उनपर बिचार कर अपनी प्रवृत्तिमें यथोचित फेरफार कर सकें ।

नये और अपूर्व ग्रन्थ ।

भारतके प्राचीन राजवंश ।

हिन्दीमें इतिहासका एक अपूर्व ग्रन्थ । इस देशमें पहले जो अनेक वंशोंके बड़े बड़े प्रतापी, दानी और विद्याव्यवसनी राजा महाराजा हो गये हैं उनके सच्चे इतिहास हम लोग बिलकुल नहीं जानते । बहुतांके विषयमें हमने तो भूठी, ऊटपटांग किम्बदन्तियाँ सुन रक्खी हैं और बहुतांको हम भूल ही गये हैं । इस ग्रन्थमें क्षत्रपवंश, हैहयवंश (कलचुरि) परमारवंश (जिसमें राजा भोज, मुंज, सिन्धुल आदि हुए हैं), चौहानवंश (जिसमें प्रसिद्ध महाराज पृथ्वीराज हुए हैं), सेनवंश और पालवंश तथा इन वंशोंकी प्रायः सभी शाखाओंके राजाओंका सिलसिलेवार और सच्चा इतिहास प्रमाणोंसहित संग्रह किया गया है । शिलालेखों, ताम्रपत्रों, ग्रन्थ प्रशस्तियों, फारसी-अरबीकी तवाहीखों तथा अन्य अनेक साधनोंसे बड़ेही परिश्रमपूर्वक यह ग्रन्थ रचा गया है । प्रत्येक इतिहासप्रेमीको इसकी एक एक प्रति मँगाकर रखनी चाहिए । इसमें अनेक जैनविद्वानों तथा जैनधर्मप्रेमी राजाओंका भी उल्लेख है । लगभग ४०० पृष्ठोंका कपड़ेकी जिल्द सहित ग्रन्थ है । मूल्य ३) ६० । आगेके भागोंमें गुप्त, राष्ट्रकूट, आदि वंशोंके इतिहास निकलेंगे ।

नया सूचीपत्र ।

उत्तमोत्तम हिन्दी पुस्तकोंका १२ पृष्ठोंका नया सूचीपत्र छपकर तैयार है । पुस्तक-प्रेमियोंको इसकी एक एक कापी मँगाकर रखना चाहिये ।

मैनेजर, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई ।

उत्तमोत्तम जैन ग्रन्थ ।

नीचे लिखी आलोचनात्मक पुस्तकें विचारशीलोंको अवश्य पढ़नी चाहिएँ । साधारण बुद्धिके गतानुगतिक लोग इन्हें न मँगावें ।

१ ग्रंथपरीक्षा प्रथम भाग । इसमें कुन्दकुन्द श्रावकाचार, उमास्वातिश्रावकाचार और जिनसेन त्रिवर्णाचार इन तीन ग्रन्थोंकी समालोचना है । अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध किया है कि ये असली जैनग्रन्थ नहीं हैं—भेषियोंके बनाये हुए हैं । मूल्य १) २)

२ ग्रंथपरीक्षा द्वितीय भाग । यह भद्रबाहु-संहिता नामक ग्रन्थकी विस्तृत समालोचना है । इसमें बतलाया है कि यह परमपूज्य भद्रबाहु श्रुतकेवलीका बनाया हुआ ग्रन्थ नहीं है, किन्तु ग्वालियरके किती धूर्त भट्टारकने १६-१७वीं शताब्दिमें इस जाली ग्रन्थको उनके नामसे बनाया है और इसमें जैनधर्मसे विरुद्ध सैंकड़ों बातें लिखी गई हैं । इन दोनों पुस्तकोंके लेखक श्रीयुक्त बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार हैं । मूल्य १)

३ दर्शनसार । आचार्य देवसेनका मूल प्राकृत ग्रन्थ संस्कृतच्छाया, हिन्दी अनुवाद और विस्तृत विवेचन । इतिहासका एक महत्त्वका ग्रन्थ है । इसमें श्वेताम्बर, यापनीय, काष्ठासंघ, माथुरसंघ, द्राविडसंघ, आजीवक (अज्ञानमत) और वैनेयिक आदि अनेक मतोंकी उत्पत्ति और उनका स्वरूप बतलाया गया है । बड़ी खोज और परिश्रमसे इसकी रचना हुई है ।

नकली और असली धर्मात्मा ।

श्रीयुक्त बाबू सूरजभानुजी वकीलका लिखा हुआ सर्वसाधारणोपयोगी सरल उपन्यास । ढोंगियोंकी बड़ी पोल खोली गई है । मूल्य १)।

आत्मानुशासन ।

भगवान् गुणभद्राचार्यका बन या हुआ यह ग्रन्थ प्रत्येक जैनीके स्वाध्याय करने योग्य है । इसमें जैनधर्मके असली उद्देश्य शान्तिसेखकी ओर आकर्षित किया गया है । बहुत ही सुन्दर रचना है । आजकलकी शुद्ध हिन्दीमें हमने न्यायतीर्थ न्यायशास्त्री पं० वंशीधरजी शास्त्रीसे इसकी टीका लिखवाई है और मूलसहित छपवाया है । जो जैनधर्मके जाननेकी इच्छा रखते हैं, उन अजैन मित्रोंको भेंटमें देने योग्य भी यह ग्रन्थ है । मूल्य २)

युत्तयनुशासन सटीक ।

माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमालाका १५वाँ ग्रन्थ छपकर तैयार हो गया । इसके मूलकर्ता भगवान् समन्तभद्र और संस्कृतटीकाके कर्ता आचार्य विद्यानन्दि हैं । यह भी देवागमकी भाँति स्तुत्यात्मक है और युक्तियोंका भाण्डार है । अभी तक यह ग्रन्थ दुर्लभ था । प्रत्येक भण्डारमें इसकी एक एक प्रति अवश्य रहनी चाहिये । मूल्य १)।

नियमसार ।

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यका यह विलकुल ही अप्रसिद्ध ग्रन्थ है। लोग इसका नाम भी नहीं जानते थे। बड़ी मुश्किलसे प्राप्त करके यह छपाया गया है। नाटक समय-सार आदिके समान ही इसका भी प्रचार होना चाहिए। मूल प्राकृत, संस्कृतच्छाया, आचार्य पद्मप्रभमलधारि देवकी संस्कृत टीका और श्रीयुत शीतलप्रसादजी ब्रह्मचारीकृत सरल भाषाटीकासहित यह छपाया गया है। अध्यात्मप्रेमियोंकी अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए। मूल्य २) दो २०।

नयचक्र संग्रह ।

यह उक्त ग्रन्थमानका १६वाँ ग्रन्थ है ; इसमें देवसेन-सूरिकृत प्राकृत नयचक्र (संस्कृतच्छायासहित) और आलाप पद्धति तथा माहल्ल धवलकृत द्रव्यस्वभावप्रकाश (छायासहित) ये तीन ग्रन्थ छपे हैं। भूमिका पढ़ने योग्य है। तैयार हो गया। मूल्य ॥३)।

पार्श्वपुराण भाषा ।

कविवर भूपरदासजीका यह अपूर्व ग्रन्थ दूसरी बार छपाया गया है। इसकी कविता बड़ी ही मनोहारिणी है। जैनियोंके कथाग्रन्थोंमें इससे अच्छी और सुन्दर कविता आपको और कहीं न मिलेगी। विद्यार्थियोंके लिये भी बहुत उपयोगी है। शास्त्रसमाग्रियोंमें बाँचनेके योग्य है। बहुत सुन्दरतासे छपा है। मूल्य सिर्फ १) २०।

कथामें जैनसिद्धान्त ।

एक मनोरंजक कथाकेद्वारा जैनधर्मकी गूढ़ कर्म-फिलासफियोंकी सरलतासे समझना हो और एक बढ़िया काव्यका आनन्द लेना हो तो आचार्य सिद्धर्षिके बनाये हुए 'उप-मितिभवप्रपचाकथा', नामक संस्कृत ग्रन्थके हिन्दी अनुवादकी अवश्य पढ़िये। अनुवादक श्रीयुत नथूराम प्रेमी। मूल्य प्रथम भागका ॥३) और द्वितीय भागका ॥२)। जैनसाहित्यमें अपने ढंगका यही एक ग्रन्थ है।

संस्कृत ग्रन्थ ।

- १ जीवन्धर चम्पू, कवि हरिचंद्रकृत। मू० १)।
- २ गद्यचिन्तामणि, वादीभसिंहकृत। मू० २)।
- ३ जीवन्धरचरित, गुणभद्राचार्यकृत। मू० १)।

४ क्षत्रचूड़ामणि, वादीभसिंहकृत। मू० १)।

५ यशोधरचरित, वादिराजकृत। मू० ॥३)।

चरचा-समाधान। पं भूधरमिश्रकृत। भाषा का नय ग्रन्थ। हालहीमें छपा है। मूल्य २॥३)।

मैनेजर, जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हाराबाग, बम्बई।

बम्बईका माल ।

बम्बईका सब तरहका माल—कपड़ा, किराना, स्टेशन-नरी, पीतल, ताँबा, दवाइयों, तेल, साबुन आदि—हमसे मँगाइए। माल दस जगह जाँचकर बहुत सावधानी और ईमानदारीके साथ भेजा जाता है। चौथाई रुपयेके लगभग पेशगी भेजना चाहिये। एक बार व्यवहार करके देखिये।

नन्हेलाल हेमचन्द जैन, कमीशन एजेंट,

चन्दावाड़ी, पो० गिरगाँव, बम्बई।

जरूरत ।

हमें 'जैनसिद्धान्तभवन' आराके लिये दो एक अच्छे लेखकोंकी जरूरत है जो देवनागरी अक्षरोंमें सुन्दर, साफ और शीघ्रताके साथ नकलका काम कर सकें। वेतन दोस्वतानुसार दिया जायगा; और वेतन न लेकर उजरत पर काम करनेवालोंको उजरत पर रक्खा जायगा। जो भाई आना चाहें उन्हें अपनी योग्यता और लिखाईका परिचय देते हुए हमसे शीघ्र पत्र व्यवहार करना चाहिये। साथ ही यह भी लिखना चाहिये कि वे कमसेकम किस वेतन पर काम करके हैं और यदि उजरत पर काम करना चाहें तो उनकी लिखाईकी दर क्या होगी।

जिन भाइयोंको पं० सीतारामजी शास्त्री नामके लेखकका पता मालूम हो उन्हें कृपाकर हमें उससे सूचित करना चाहिये और उनतक भी यह समाचार पहुँचा देना चाहिये। उन्होंने पहले भी भवनमें काम किया है।

निर्मलकुमार,

चक्रेश्वरकुमार,

आरा।